रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग

संसार की श्रेष्ठतम समाजवादी महिला

उसका

जाज्वल्यमान जीवन

उसकी

क्रान्तिकारी विचारधारा

: लेखक :

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी



नेशनल इन्फ़रमेशन ऐंड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,

बम्बई

प्रथम संस्करण १९४६

क़ीमत : ३। रु.

नेशनल इन्फ़रमेशन ऐंड पब्लिकेशन्स लिमिटेड, ७४, लक्ष्मी बिल्डिंग, सर फ़ीरोजशाह मेहता रोड, फ़ोर्ट, बम्बई, के लिए **कुसुम नैयर** द्वारा प्रकाशित और **वि. पु. भागवत** द्वारा **मौज प्रिंटिंग ब्यूरो**, गिरगांव, बम्बई, में मुद्रित.

क्रान्तिमूर्ति

बहन सत्यवती देवी, दिल्ली

की स्मृति में

भूमिका

रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग का नाम मार्क्सवाद के आचार्यों और समाजवादी क्रान्तिकारियों के उच्चतम चार-पांच नामों में से है। सिद्धान्त के क्षेत्र में उनकी बराबरी लेनिन के अतिरिक्त और कोई शायद ही कर सकता हो और कार्यक्षेत्र में उनके टक्कर के क्रान्तिकारी इने-गिने ही हुए हैं। अपने प्राण तक उन्होंने क्रान्ति की वेदी पर ही न्योछावर किये।

लेनिन के साथ कई विषयों पर रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग का मतभेद हुआ था, यद्यपि दोनों ने बराबर एक दूसरे का आदर करते हुए साथ साथ काम किया था। लेनिन की मृत्यु के बाद जब उनके रूसी अनुयायियों ने लेनिनवाद को संकीर्ण रूप दिया, तो रोज़ाका आदर संसार के कम्युनिस्ट आन्दोलन से उठ गया। यही कारण है कि आज मार्क्सवाद के एक ऐसे उच्च कोटि के नेता के नामसे समाजवादी अधिक परिचित नहीं रहे हैं। ऐसी दशा में मेरे मित्र बेनीपुरीजी ने रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग की जीवनी और उसके विचारों के ऊपर यह सुन्दर पुस्तक रचकर भारतीय समाजवाद की अद्भुत सेवा की है। आज के ज़माने में जब संसार-भर में समाजवाद अपने सही रूप को क़ायम करने में लगा हुआ है और स्तालिनवाद के कठपुतलों से अपना गला बचाने का यत्न कर रहा है, रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के विचारों का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। आज से तीस-चालीस वर्ष पहले इस क्रान्तिकारी विदुषी ने जो बातें कही थीं, वे आज सही साबित हो रही हैं और संसार के समाजवादी आन्दोलन का पथप्रदर्शन कर रही हैं।

मैं चाहूँगा कि प्रत्येक भारतीय समाजवादी और समाजवाद का हितेच्छु बेनीपुरीजी की इस पुस्तक को ध्यान से पढ़े और उसका मनन करे। अपने देशमें समाजवादी साहित्य का भंडार लगभग छूँछा है। भाई बेनीपुरी ने उस भंडार को एक अनमोल रत्न दिया है।

पटना
११।११।४६

जयप्रकाश नारायण

दो शब्द !

हाँ, इस पुस्तक के बारे में सिर्फ़ दो शब्द कहना है।

जब मैं हज़ारीबाग़ सेन्ट्रल जेल में चौथी बार (१९४२–४५) पहुँचा, पॉल फ़्रोलिख़ की 'रोजा लुक्ज़ेम्बुर्ग' नामक पुस्तक साथी जयप्रकाश ने मुझे दी और कहा—क्या हिन्दी में इस विषय पर कोई पुस्तक तैयार नहीं की जा सकती?

उनकी यह चुनौती अनसुनी कर दी गई होती, यदि वह उस जेल से पलायन (९ नवम्बर, ४२) नहीं कर गये होते। वह तो चले गये, जो वहाँ रह गये, उनकी जिन्दगी काँजीहौस में डाले गये जानवर की सी हो गई—एक मुक़र्रर घेरे के अंदर रहिये और जो भूसा–पुआल सामने डाल दिया जाय, उसे पगुराया कीजिये।

इस नये बंधन का भी कुछ उपयोग क्यों न हो? मैंने २० जनवरी ४३ को इस पुस्तक का लिखना शुरू किया और २१ मार्च ४३ को यह ख़त्म हुई—कुल साठ दिन लगे इसमें!

पुस्तक कैसी बन पड़ी है, आप ही बता सकते हैं, हाँ, साथी जयप्रकाश ने इसकी भूमिका लिख कर इसका महत्व बढ़ा दिया है, इसमें सन्देह नहीं।

जयप्रकाश जी को धन्यवाद देता हूँ और श्रीमती कुसुम नैयर को भी, जिन्होंने पुस्तक को इतनी शीघ्रता में इतनी स्वच्छता और सुन्दरता से प्रकाशित कराया है।

हिमालय, पटना
३१–१२–४६

श्री रा. बेनीपुरी

विषय-सूची

पहला अध्याय:

वह कौन थी, क्या थी ?

१. वे दोनों १
२. महान नारी ३
३. वीर योद्धा ! ७
४. क़लम की धनी ११
५. प्रकांड वक्ता १३
६. ज़िन्दा मशाल १५

दूसरा अध्याय :

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

१. विद्रोही बालिका १७
२. प्रोलेतारियत की सेवामें २०
३. वनवास की ओर २३
४. जीवन संगी २५
५. संघर्ष का श्रीगणेश २८
६. विरुद्ध क्षेत्र में ३२

तीसरा अध्याय :

सुधार या क्रान्ति ?

१. मार्क्सवाद में संशोधन ! ३६
२. रोज़ा की तर्कप्रणाली ४०
३. सुधार या क्रान्ति ४४
४. प्रजातंत्र और वैधानिकता ४७
५. पूंजीवाद पालतू ! ५०
६. जेल की पहली झलक ! ५३

चौथा अध्याय :

क्रान्तिकारी मोर्चेपर

१. लेनिन और रोज़ा ५७
२. १९०५ का वह तूफ़ान ! ६०
३. युद्धभूमि में ६६
४. वे तथाकथित समाजवादी ! ६९
५. जेल और रिहाई ७३
६. क्रान्ति की आलोचना ७८

पाँचवाँ अध्याय :

नई हालत, नया हथियार

१. निराशा का वातावरण ८२
२. आम हड़ताल : नया हाथियार ८३
३. अर्थशास्त्र और पूँजीवाद ९०
४. साम्राज्यवाद के विरोध में ९५
५. कौट्स्की से संबन्ध विच्छेद ९८
६. फिर क़ानूनी शिकंजे में १०२

छठा अध्याय :

१९१४ का विश्वयुद्ध

१. प्रलयशंख बजा ! १०५
२. बग़ावत का झंडा १०७

३. जेल और जुनियस ११०
४. झंडा उड़ता रहा ! ११५
५. जेल, जेल, जेल ११९

सातवाँ अध्याय :

रूस की क्रान्ति

१. पहली विजय १२४
२. नवम्बर की क्रान्ति १२८
३. बौल्शेविकनीति की आलोचना १३०

आठवाँ अध्याय :

जर्मनी में क्रान्ति

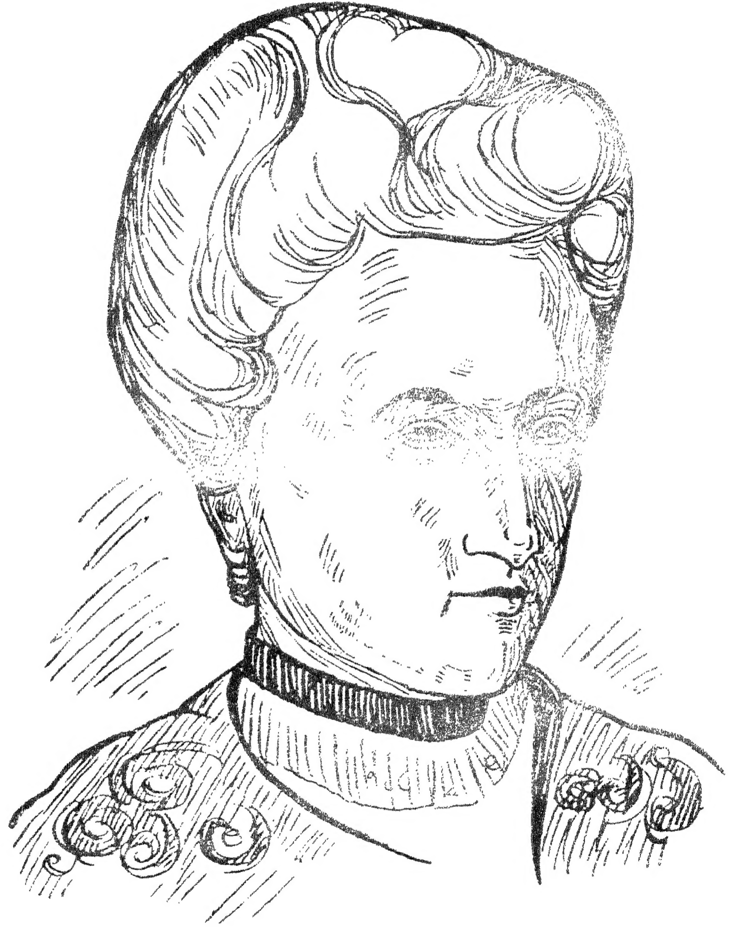
१. "रंग लाती है हिना" १३५
२. कैसर भाग चला १३९
३. शक्तियों का लेखा जोखा १४२
४. क्रान्ति का प्रोग्राम १४५
५. क्रान्तिविरोधी धावे ! १५२
६. जर्मनी की कम्यूनिस्ट पार्टी १५९

नौवाँ अध्याय :

बेठिकाना उनका मज़ार है

१. आग किसने लगाई ? १६४
२. शाबास स्पार्टकस १७०
३. नरमेधं का प्रारंभ १७४
४. हत्या, हत्या, हत्या ! १७७
५. उपसंहार १८०

प्रारम्भ २०।१।४३
समाप्त २०।३।४३
हजारी बाग सेन्ट्रल जेल



रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग

: १ : वह कौन थी? क्या थी?

वे दोनों

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४–१९१८) के समय अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का यूरोप में जैसे दिवाला पिट गया! बड़े बड़े अगड़धत्त समाजवादी नेताओं ने अपने सभी पुराने सिद्धान्तों और कथनों को, जैसे सात हाथ ज़मीन खोदकर नीचे गाड़ डाला और वहाँ के मज़दूरों को साम्राज्यवादी ज़िबहख़ानेमें, अपने पुराने नेतृत्व की लाठी से हाँककर, क़त्ल होने को डाल दिया! मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय भाई चारे के मन्दिर में उन्होंने, देशभक्ति के नाम पर, एक राक्षसी को बिठा दिया–राक्षसी जो ख़ून पर जीये, विनाश पर मुस्कुराये!

यूरोप में संहार का तांडव हो रहा था! ख़ून की नदियाँ बह रही थीं। उनकी बीभत्स धारामें मानवता ऊब–डूब रही थी।

यह किसका ख़ून था? ग़रीबों का, मज़दूरों का। ग़रीबोंके बेटे फ़ौज में भर्ती हो रहे, या किये जा रहे। जर्मनी हो या फ्राँस, इंग्लैंड हो या रूस, आस्ट्रिया हो या टर्की—सभी जगह ग़रीबों के बेटे! ग़रीबों के बेटे, शोषितों और उत्पीड़ितों के बेटे, मज़लूमों और मुसीबतज़दों के बेटे। वे घर से छुड़ाकर, हटाकर मैदान में खड़े किये गये—एक दूसरे की गर्दन काटने को, एक दूसरे के कलेजे में छुरी भोंकने को। कैसा क्रूर, निर्मम कर्म! सबसे करुणाजनक बात तो यह थी कि जिन्हें चाहिये था कि उन्हें इस कर्म से दूर रहने का उपदेश दें, वे ही उनके नेता कह रहे थे—'चढ़ जा बेटा, सूलीपर!'

इस भयानक अंधकार के युग में, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के क्षेत्रमें दो हस्तियाँ थीं, जिन्होंने सच्चे पथ-प्रदर्शन के लिये आकाश-दीप का काम किया। एक लेनिन, दूसरी रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग। एक ने रूस के मज़दूरों को और दूसरीने जर्मनी के मज़दूरों को सही और सच्ची राह बताई। उनकी आवाज़ ग़रीबों तक, जनता तक नहीं पहुँचने पावे, इसके लिये ज़ार और क़ैसर दोनों ने कुछ उठा नहीं रखा। एक बेचारा देश से निर्वासित, स्वीज़रलैंड में धूनी जमा रहा था; दूसरी इस जेल से उस जेलकी कालकोठरियों में तपस्या की ज़िन्दगी काट रही थी!

किन्तु, इन दोनों की आवाज़ें तोपों की गड़गड़ाहट और गोलियों की सनसनाहट के तुमुलरवको भेदकर ग़रीबों के पास पहुँच कर रहीं—फ़ौजी मोर्चों और कारख़ानों में वे आवाज़ें ध्वनित प्रतिध्वनित होने लगीं। युद्ध के चौथे वर्ष में ज़ार हवा में उड़ गया, पाँचवाँ वर्ष आते ही कैसर गद्दी छोड़कर चुपचाप, अपने देश से लापता हो गया !

लेनिन पेट्रोग्राद पहुँचा, रोज़ा बर्लिन पहुँची। मज़दूरोंने अपने नेताओं का जो स्वागत किया, वह तो इतिहास की चीज़ है।

किन्तु, यह तो क्रान्ति की पहली मंज़िल थी, जनसत्ता तानाशाहों के हाथ से हटकर लोकतंत्र के हाथ में आई। लोकतंत्र या प्रजातंत्र—जिसमें पूंजीवादियों का बोलबाला होता है। अब क्रान्तिको दूसरी मंज़िल पर ले जाना था—जब हुकूमत की बागडोर उनके हाथो में आये जो संसार के विभवके सच्चे उत्पादक हैं, जिनके पसीने पर ही सभ्यता और संस्कृति का दारमदार है! दोनों नेता इस कठिनतर कार्यमें लग गये।

इसमें लेनिन सफल हुआ। रूसमें, मानव इतिहासकी पहली घटना के रूप में, ग़रीबों का—मज़दूरों और किसानों का—राज क़ायम हुआ। संसार के कोनेकोने में इस अघट घटनाकी ख़बर पहुँची। जो लेनिन सिर्फ़ रूसके कुछ मज़दूरों के दिल में जगह पाये हुए था, अब वह समूचे संसार की ज़बानपर था। सब जगह उसकी चर्चायें, सब जगह उसकी गाथायें। किन्तु, जर्मनी की जनता के दुर्भाग्य से, उसके अपार बलिदान करने के बावजूद, जर्मनी की क्रान्ति दूसरी मंज़िल नहीं तय कर पाई। वह असफल हुई। नतीजा दोनों को भुगतना पड़ा—जर्मनी की जनता की छातीपर एक दिन हिटलर सवार हुआ और उसकी नेता रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने उस प्रयत्न में सिर्फ़ अपनी जान ही नहीं खोई, उसकी कीर्ति भी सीमित रह गई।

कैसी करुण घटना ! जर्मनी के क्रान्तिविरोधियों ने उसकी निर्मम हत्या करके उसकी लाश को चुपचाप एक नाले में डाल दिया, जहाँ से चार महीने बाद वह निकाली गई। उसे नाले से निकालकर मज़दूरों ने आँसुओं से अभिषिक्त किया, श्रद्धाभक्ति से समाधिस्थ किया और उसपर योग्य स्मारक बनाया। हिटलर ने उस स्मारक को भी नहीं रहने दिया, आज—'बेठिकाना उसका मज़ार है !'

किन्तु घटनावश, कुछ दिनों के लिये रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग की दीप्ति भले ही सीमित रह गई, उसके स्मारक को तानाशाही हाथों ने भले ही नष्ट कर दिया, उसकी पुस्तकों की उन्होंने भले ही होली जलाई, लेकिन उसके अस्तित्व और व्यक्तित्वको दुनियाके इतिहास के पन्नों से कोई ताक़त नष्ट नहीं कर सकती। जब तक दुनिया में

समाजवाद का नामनिशान रहेगा, जब तक क्रान्तिका इतिहास लिखा और पढ़ा जायगा, जब तक त्याग और बलिदान की पूजा हुआ करेगी—रोज़ा का अस्तित्व भी निस्संदेह अपार्थिव रूपमें ही, अजर और अमर रहेगा।

महान नारी

अपने पूरे सौ वर्षों के इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद ने ऐसी महान नारी पैदा नहीं की। मार्क्स और ऐंजेल्स के बाद जो बड़े से बड़े समाजवादी नेता हुए हैं, उनमें से किसी के भी समकक्ष उसे गौरव के साथ खड़ा किया जा सकता है। विचार और कार्य्य दोनों का उसमें सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था। मार्क्स और ऐंजेल्स के वैज्ञानिक समाजवाद की वह अनुयायी थी; किन्तु, वह लकीर पीटनेवाले 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' वाले लोगों की पंक्तियों में अपने को नहीं बिठा सकती थी। उसने समाजवाद को एक जीवित सिद्धान्त के रूप में, न कि मुर्दा, पथराये हुए आर्ष-वाक्य के रूप में, ग्रहण किया था। उस सिद्धान्त का प्रयोग कर वह नये परिणामों पर पहुँची, उस प्रयोग को सुन्दर, ओजस्वी शब्दों में लोगों के सामने रखा। जब जर्मनी में सुधारवाद का बोलबाला था, जब मार्क्स और ऐंजेल्स के नाम पर, कभी कभी उन्हीं के वाक्यों को तोड़मरोड़कर, समाजवाद की क्रान्तिकारिता को नष्ट करने की चेष्टायें हो रही थीं, रोज़ा ने अपनी क़लम और वाणी से उन दो महान आत्माओं के सिद्धान्त को, उन्हीं की जन्मभूमि में, सुरक्षित और अक्षुण्ण रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और निस्संदेह उसमें सफल हुई। उसकी इस सफलता के कारण, स्वभावतःही जर्मनी के शासकों की आँखों का वह काँटा बन गई। लैसले के बाद, शासकों के हाथों सबसे ज़्यादा दमन और उत्पीड़न का शिकार उसे ही बनना पड़ा था। अंततः उसकी जान के वे गाहक बन के रहे। जिस निर्ममता से उसकी हत्या की गई, उसके पहले वैसी निर्ममता देखी नहीं गई थी!

सोलह वर्ष की उम्रमें, जब वह किशोरी ही थी, अपनी ज़िन्दगी समाजवाद और क्रान्ति के लिये उसने न्योछावर कर दी थी और लगातार बत्तीस वर्षों तक उसे एक समर्पित जीवन की तरह व्यतीत करती रही। दिन रात क्रान्ति की ही धुन; दिन रात समाजवाद की स्थापना का ही स्वप्न! विराम नहीं, विश्राम नहीं। एक साधक की तरह साधना का अलख वह जगाये जा रही!

पोलैंड के एक अच्छे, सुसभ्य, सुसंस्कृत यहूदी परिवारमें उसका जन्म हुआ

था। शिक्षा–दीक्षा में कोई कमी नहीं की गई। बचपन से ही उसमें एक अलौकिक प्रतिभा दीख पड़ती थी। माँ–बाप अपनी इस प्रतिभाशाली संतान को देखकर फूले नहीं समाते। जो कोई परिवार में अतिथि रूप में आता, उसके सामने वे इस बालिका–रत्न को पेश करते। वे क्या जानते थे उनकी यह सबसे छोटी बच्ची दुनिया के सामने कुछ दूसरी ही चीज़ पेश करने को भेजी गई है?

जिस तरह प्रकृति ने उसे प्रतिभा का अमर दान उन्मुक्त हाथों से दिया था, उसी तरह उसके रूप-रंग में उसने थोड़ी कंजूसी दिखाई थी–मानों, वह शुरू से ही, तितली बनने को नहीं, क्रान्ति का नेतृत्व करने को भेजी गई हो। उसका क़द कुछ ठिंगना और उसके शरीर की गठन कुछ बेढंगी थी। छोटे छोटे पाँव, जो लम्बे डग के लिये बहुत ही छोटे। बचपन की बीमारी से चलते कमर का निचला भाग भद्दा हो चला था, उसकी चाल में भी उससे विषमता आ जाती थी। चेहरा मनोभावों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब–जिससे कुछ लोग उसकी ओर खिंचते, तो कुछ आप ही आप अलग फेंक दिये जाते। प्रसन्नता, सहानुभूति, घृणा, व्यंग–सब जिसपर स्पष्ट पढ़े जा सकते। ललाट ऊँची और खूबसूरत। पतले अधरों पर प्रायः ही विषाद की गहरी रेखा दीख पड़ती। उसकी सबसे प्रमुख और प्रभावशाली चीज़ थी, उसकी दो बड़ी, काली और आकर्षक आँखें। उन आँखों से कभी शान्ति और सहानुभूति टपकती, तो कभी क्रोध और उत्तेजना चमक उठती। शक्तिशाली मस्तिष्क–दुर्द्धर्ष आत्मा! वाणी में नफ़ासत और ताक़त–एक-एक शब्द को स्पष्ट उच्चारण करते हुए बोलती। कितना ही बड़ा मजमा क्यों न हो–उसकी बात साफ़ सुनी जाती। बातचीत करने में बड़ी दिलचस्पी रखती–छोटी-छोटी बात को भी जादू और कलासे पिरो कर कहती। उससे बात करने मे कोई भी गर्व अनुभव कर सकता था। लेकिन वह यह भी जानती थी कि कहाँ चुप रहना और सिर्फ़ दूसरे की ही सुनना मुनासिब है।

विनोद–विश्राम, सुख-चैन से उसे स्वाभाविक वितृष्णा थी। उसका विनोद बच्चों के साथ ही दीख पड़ता। उसके अपनी संतान नहीं थी—एक क्रान्तिकारी व्यक्ति को परिवार बसाने की फ़ुर्सत कहाँ? इस बारे में भी वह लेनिन से मिलती थी। किन्तु, महल्ले भर के बच्चे उसे पहचानते, प्रेम करते; क्योंकि वह उनपर स्नेह बरसाने में ज़रा भी कंजूसी नहीं दिखाती। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान कौट्स्की के बच्चों से वह इस तरह घुलीमिली रहती, उनके खेलों और खिलौनों में इस तरह उलझी होती कि मालूम होता, वह भी छोटी बच्ची है। किन्तु, बालिग़ लोगों से, ख़ासकर अपरिचितों से, वह बहुत ही खिंची-खिंची रहती। उनके साथ उसका व्यवहार रूखा,

कभी-कभी बहुत ही उखड़ा होता। ऐसा करके शायद वह अपने समय को बर्बाद होने से बचाती, या राजनीतिक क्षेत्र में मतभेद होने पर, उनसे बेलाग और बेलौस बातें कर सके, इसके लिये पहले से ही सोचे रहती। किन्तु, जिससे दोस्ती हुई, उसे पूरी दोस्ती निभाती। ऐसा कहा जाता है कि उसकी दोस्ती का एकमात्र आधार राजनीतिक मतसमता थी। बात ऐसी नहीं है। वह चरित्र को इसमें सबसे प्रधानता देती और इस बारे में ज़रा भी फिसलन वह बर्दाश्त नहीं करती। उसके विचार, कई बातों में ट्रौटस्की से मिलते थे, किन्तु दोनों में कभी दोस्ती नहीं हुई। लेनिन से कई बार उसका मतभेद हुआ, कई बार दोनों ओर से घुस्से तनें, किन्तु इनके बावजूद दोनों को दोनों के लिये अगाध श्रद्धा और स्नेह था। कार्ल रेडेक उसके चेलों में सबसे प्रतिभाशील था, किन्तु उसके चरित्र की शिथिलता के कारण उसे वह दूर ही देखने की कोशिश करती। फ्रांस के समाजवादी नेता जौरे से उसका कई बार द्वंद्व हुआ, तो भी उसके चरित और साफ़गोई के चलते हमेशा वह उसकी प्रशंसा करती थी। जर्मनी के जितने प्रसिद्ध समाजवादी थे, सब उसकी मित्रमंडली में थे—बेवेल, सिंजर, मेहरिंग, लिब्तक्नेख़्त, कौट्स्की, क्लारा ज़ेटकिन, लिब्तक्नेख़्त की बीबी सोनिया, और कौट्स्की की बीबी तो उसकी अभिन्न मित्रों में थी।

इन मित्रों के बीच वह दिल खोल कर बातें करती। यहाँ कुछ भी दुराव नहीं था। किन्तु, उसकी ज़बान ज़रा तेज़ थी, और बुद्धि पैनी। इसलिये उनकी आलोचना करने में वह कभी बाज़ नहीं आती। एक बार वह क्लारा ज़ेटकिन के साथ टहलने गई। बातों के सुर में बेसुध बनी दोनों महिलायें वहाँ पहुँच गईं, जहाँ सैनिक लोग बंदूक़ के निशाने ले रहे थे। संयोग ही था कि इन्हें गोली नहीं लगी। शाम को ये कौट्स्की के घर पहुँचीं, जहाँ जर्मनी के सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की पितृ-मंडली इकट्ठी थी। जब यह घटना उन्हें मालूम हुई, वे तरह-तरह की बातें करने लगे! "यदि आज गोली लग गई होती तो......"। बूढ़े बेवेल ने इन लोगों की मृत्यु पर जो श्रद्धांजलि लिखी जाती, उसे लिखना शुरू कर दिया। प्रशंसा के पुल पर पुल तैयार होने लगे। रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने बीच में रोक कर कहा, सिर्फ़ इतना लिख देना काफ़ी होता—"यहाँ जर्मनी के समाजवादी आन्दोलन के दो अंतिम व्यक्तियों ने समाधि ली।" दो अंतिम व्यक्तियों ने!—इसमें जो व्यंग था, उससे सब तिलमिला उठे! जर्मनी की पार्टी ने समाजवादी क्रान्ति के रास्ते को छोड़कर जो सुधारवादी वैधानिकता की राह पकड़ी थी, उसी पर यहाँ चोट की गई थी! चाटुकारिता तो रोज़ा ने कभी जानी ही नहीं।

अपने जीवन-संगी लिओ जोगिचेस के साथ उसका वैसा ही संबन्ध था, जैसा दो क्रान्तिकारी पति-पत्नी में होना चाहिये। यहाँ प्रेम कर्तव्य की बेदी पर निछावर था। मानव–सुलभ वासनाओं और कमज़ोरियों के लिये वहाँ गुंजायश कहाँ ?

संगीत से उसे बड़ा ही प्रेम था। जर्मनी के टकसाली संगीत शास्त्र में उसकी पैठ थी। उसका कंठ भी सुरीला था।

वह दिन में भी सपने देखती और प्रायः कल्पना–जगत में विचरण करती। लेकिन चाहे वह गंभीर बनी हो, या ज़िन्दादिली में हो, चाहे व्यंग करती हो, या चुटकी ले रही हो,—वह अपने चारों ओर एक प्रोत्साहक, उत्साहमय, मादक वातावरण बनाये रहती।

वह हमेशा अपने को गंभीर अध्ययन में तल्लीन रखती। वह अपने ज्ञान को सर्वव्यापी बनाने की चेष्टा में हमेशा लगी रहती । सिर्फ़ राजनीति, अर्थशास्त्र और इतिहास में—जिनका प्रयोग उसे राजनीतिक अस्त्र की तरह करना था— व्युत्पन्नता हासिल करने से ही उसे संतोष नहीं था। निस्संदेह इनके अध्ययन और इनपर पूरा अधिकार करने में वह एक भी उठा नहीं रखती थी, लेकिन उसके साथ ही भूगर्भशास्त्र, मानववंश शास्त्र, उद्भिजशास्त्र, और प्राणीशास्त्र का अध्ययन भी वह उसी उत्साह से करती। वह कभी कभी देहातों में निकल जाती और वहाँ से तरह तरह के पौधे और फूल ले आती, उनकी जाँच करती, उनकी तालिका बनाती और उनपर नोट लिखती। ख़ासकर उद्भिजशास्त्र से तो उसे अपार अनुराग था।

कभी कभी चित्रकारी की ओर भी उसका प्रबल झुकाव होता। बचपन से ही वह पौधों, फूलों, जानवरों, दृश्यों और मानव आकृतियों की तस्वीरें कूंची और पेन्सिल से खींचती। पीछे तैल चित्रों की ओर उसका ध्यान गया और बिना किसी बाज़ाब्ता शिक्षा के भी उसने जो चित्र तैयार किये, उन्हें देखकर चित्रकला के आचार्यों को आश्चर्य्य होता !

अगर वह राजनीति में नहीं आती, तो अपने मनोभावों के प्रगटीकरण के लिये उसने कविता क्षेत्र को पसंद किया होता। बचपन में वह जो तुकबंदियाँ करती, वे उसकी छिपी हुई कवि-प्रतिभा की स्पष्ट सूचना देती थीं। उसने जो पहला लेख 'मई दिवस' पर लिखा, उसे लिओ जोगिचेस ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि यह लेख नहीं, कविता है ! उसके समय-समय पर लिखे ख़तों से कविता छलकी पड़ती है। ख़ास कर, जो ख़त उसने जेलों से लिखे, उनमें तो कविता-ही कविता है।

इन ख़तोंमें क़लम की नोक से वह तस्वीर-पर-तस्वीर बनाये जा रही है—अखबार बेचनेवाला लड़का, बाज़ार जानेवाली बुढ़िया, फूल बेचनेवाली युवती और होटल का ख़ानसामा—आये दिन आँखों से गुज़रनेवालों की सूरतें उसकी लेखनी की रंगीनी से चमक-सी उठती हैं। दूसरों के कष्टों का वर्णन करते-करते, जैसे, वह कलेजा निकाल कर रख देती है, किन्तु, जहाँ अपनी बात आई, एक दो शब्द में चुप !

रोज़ा के चरित में मर्दानगी का अंश ज़रूर ज़्यादा था—साफ़ तार्किक मस्तिष्क, निस्सीम कार्य्यशक्ति, निश्चय की दृढ़ता, साहस और विश्वास—ये पुरुष-सुलभ सब गुण उसमें थे; किन्तु, वह मर्दानी औरत नहीं थी। चरित के बल के साथ ही उसमें नम्रता और सहानुभूति, भावुकता और दयालुता भी भरी पूरी थी। कभी-कभी वह राजनीति के झंझट-झमेलों से ऊब उठती—"मैं लोगों को कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं सार्वजनिक जीवन में परिस्थिति द्वारा घसीट करके लाई गई हूँ, किसी व्यक्तिगत लाभ के लोभ से, या जानबूझ कर, इसमें नहीं आई ! आह, लोग समझ पाते, मेरे हृदयमें किस तरह स्त्रीत्व उसासें भरता रहता है !"

वीर योद्धा !

जेल से उसने जो ख़त लिखे, उनसे उसके हृदयकी कोमलता छलकी पड़ती है। कभी वह किसी बनैले साँड़पर किये गये अत्याचारों पर आँसू बहाती है, कभी वह किसी तितली के टूटे पंख पर आहें भरती है। एक कीड़े को, ज़िन्दा ही, चींटियाँ घसीटे जा रही थीं। उसने चींटियोंसे उसे छुटकारा दिलाया, पर पीछे पछताई—आह, इस अधमुए जानवर को छुड़ाकर मैंने उसकी ज़िन्दगी नहीं बढ़ाई; उसकी मौत की पीड़ा बढ़ायी ! युग-युग से हृदय की कोमलता मानवता का श्रृंगार रही है—ऋषियों, महात्माओं की ज़िन्दगी इससे आभूषित होती रही है।

किन्तु, इस कोमलता ने उसके हृदय में कायरता नहीं पैदा की थी, बल्कि तक़लीफ़ों और अत्याचारों के विरुद्ध, एक जीवित विद्रोह की भावना से वह ओत-प्रोत थी। कोमलता और वीरता का उसमें अपूर्व मिलन हुआ था। एक क्रान्तिकारी योद्धा का जीवन किन नियमोंपर चलना चाहिये, उसने यों लिखा है—

"दृढ़ क्रांतिकारी कार्य्य के साथ ही मानवता के लिये गहरी अनुभूति—समाजवाद का मूल तत्व यही है। दुनियाको उलट पुलट दिया जाय, संहार की होली खुलकर खेली जाय; किन्तु, एक बूँद ऐसे आँसू गिरवाना, जिसे रोका जा सकता था,

महान अपराध है। आप महान से महान कार्य क्यों नहीं करने जा रहे हों, अगर अपनी असावधानी से एक लड़के को धक्का देकर गिरा दिया, तो समझिये, आपसे एक अक्षम्य अपराध हो गया।"

वह भलीभाँति जानती थी कि राजनीतिक संघर्षों की क़ीमत मनुष्य को जीवन और आनन्द से ही चुकानी पड़ती है, और कोमल भावनाओं के बावजूद, क्रान्तिकारी कार्यों में दिल को पत्थर बनाना ही पड़ता है। अगर उससे उद्देश्य की प्राप्ति में शीघ्रता आ सके और बाद की उससे भी अधिक तकलीफ़ों का निवारण किया जा सके, तो राजनीतिक संघर्षों में जो आवश्यक और अनिवार्य्य हों, वैसा बलिदान देने में वह कभी नहीं हिचकती थी। वह इतिहासके प्रति अपनी ज़िम्मेवारी को समझती थी, लेकिन उसकी ओट लेकर वह आवश्यक संघर्षों से बचना नहीं चाहती थी। वह जनता को इस धोखे में नहीं रख सकती थी कि उसके जुएँका बोझ उन बलिदानों से हल्का है, जिनका आलिंगन करके ही वे उस जुएँ को कंधे से उठाकर फेंक सकते हैं। कार्य में ज़िम्मेवारी का ज्ञान आवश्यक है, परिस्थिति को अच्छी तरह तौलना ज़रूरी है, आवश्यक निर्णय के पहले उसके परिणामोंका विचार कर लेना मुनासिब है—किन्तु, ज़रूरत पड़े तो दूसरों को बलिदान के लिये सानन्द आह्वान करना और अपने को भी खुशी खुशी बलिवेदी पर चढ़ा देना—एक क्रान्तिकारी नेता का यह कर्तव्य है, वह ऐसा मानती थी।

अपना मूल्य वह समझती थी और इस ज्ञान से महान कार्य्यों के सम्पन्न करने का आत्मविश्वास उसमें भरा पूरा था। इस आत्मविश्वासके साथ दुर्दमनीय कार्य-शक्ति से वह किसी काम में जुट जाती थी। उसके हृदय में भावना की चिनगारी जलती रहती थी, किन्तु उसके हृदय पर हमेशा ही मस्तिष्क का राज्य था। राजनीतिक निर्णयों को वह पहले दलीलों की कसौटी पर कसती थी, फिर सिद्धान्त की नज़र से परखती थी, तब कहीं उसे कार्य्यमें लाती थी। विचार और कार्य की अटूट एकता उसमें दीख पड़ती थी।

रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के लिये समाजवाद एक आशा—प्रदीप ही नहीं था, बल्कि उसके सब प्रयत्नों का एकमात्र बिन्दु था। लेनिन की तरह वह किसी भी परिणाम को स्वीकार करने में ज़रा भी नहीं हिचक लाती थी, बशर्ते कि वह तर्कसंगत और अनिवार्य हो। चाहे कैसा भी कड़वा घूँट हो, उसे पीने में ज़रा भी उसमें मुकर नहीं थी। अपने विचारों में किसी समझौते की गुंजायश वह नहीं रखती थी और उसके विचार एवं कार्यमें ज़रा भी विरोधाभास नहीं दीखता था।

उसके इस दृष्टिबिन्दु और इस्पाती आत्म अनुशासन ने उसका स्थान उसके साथियों में कहीं ऊपर रखा था। उसमें एक भविष्यदर्शी की वेधक दृष्टि थी, तो उस दृष्टि पर मार्क्सवाद का वैज्ञानिक चश्मा था। उनकी बातों में कभी कभी यथार्थवाद की कमी लोग देखते थे, उसे स्वप्नदर्शी कह डालते थे। किन्तु, इसका प्रधान कारण उन आलोचकों की संकुचित दृष्टि थी। "पूँजी के संग्रह" पर जो उसने भविष्यवाणी की वह पीछे चलकर चरितार्थ होकर रही, किन्तु, उसके समसामयिक लोग उसे स्वीकार करने में आगा पीछा करते रहे।

जिसमें भविष्य देखने की शक्ति नहीं, वह राजनीतिक मोर्चा बन्दी नहीं कर सकता। वर्गयुद्ध के महानतम युद्ध संचालकों—मार्क्स, ऐंजेल्स, लेनिन, ट्रौटस्की की तरह उसे भी बार-बार पैग़म्बरों की तरह भाविष्यवाणियाँ करनी पड़ीं और उनकी कितनी ही भविष्यवाणियों की तरह रोज़ा की भविष्यवाणियों में से कुछ ग़लत भी साबित हुईं। मार्क्स ने कहा था, समाजवादी राज्य पहले जर्मनी और इंग्लैंड ऐसे उन्नत पूँजीवादी देशोंमें क़ायम होगा, वह क़ायम हुआ रूस जैसे पिछड़े देश में। जब समाजवाद के सबसे महान आचार्य की यह बात है, तो दूसरों का क्या कहना ? किन्तु, ये भविष्यवाणियाँ ग़लत इसलिये नहीं हुईं कि उनके कहने वालों में दूरदर्शिता का अभाव था, बल्कि इसलिए कि विकास के सिलसिले में ऐसी चीज़ें बीच में पैदा हो गयीं, जिनकी उस समय कल्पना नहीं की जा सकती थी। किन्तु, बीच की चीज़ों ने उनके समय को ही कुछ दिनों के लिए लम्बा कर दिया है, एक–न–एक दिन और भी भीषण रूप में भयानक विस्फोट होंगे और उनकी बात सच होकर रहेगी। उनकी भविष्यवाणियाँ सच्ची हैं, सच्ची साबित हुई हैं; हाँ, परिस्थिति-वश समयका अन्तर पड़ना ज़रूरी था और रहेगा।

युद्ध में उसे सबसे बड़ा आनन्द प्राप्त होता। दिमाग़ी युद्धका वह सानन्द आह्वान करती। वह जो कुछ लिखती, प्रतिद्वंदियों को चुनौती देती हुई। उनकी चुनौती को अस्वीकार करने का तो उसके नज़दीक प्रश्न ही नहीं उठता। "जो कुछ करो–मन से करो, धुन से करो–" यह उसकी ज़िन्दगी का उद्देश्य वाक्य था। अपने विरोधियों पर जिस क्षिप्रता और तीव्रता से वह टूट पड़ती, जिस तरह अंत तक अपने हथियार चलाये जाती और विजय प्राप्त करके ही दम लेती—उसे देखकर उसके पराजित बिरोधी भी उसकी तारीफ़ करते। प्लेख़नौव अपने ज़माने की समाजवादी दुनियाके सबसे बड़े आदमियों में था। लंदन में हुई रूसी सोशल डिमोक्रैटिक काँग्रेस में रोज़ा ने उस पर जिस तरह आक्रमण किया, जिस तेजस्विता

और प्रभावशाली ढंग से अपनी चीज़ें रखीं—प्लेख़नौव के मुँह से भूरि–भूरि प्रशंसा निकल कर रही। किन्तु, कुछ ऐसे संकुचित–आत्मा व्यक्ति थे, जिनके निकट रोज़ा एक लड़ाकू या इर्षालु व्यक्ति मालूम होती! इसमें क़सूर उनका था, न कि रोज़ा का। रोज़ा कभी किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं करती, न कभी कमर के नीचे गदा चलाती। वह सिद्धान्त की लड़ाई लड़ती, सीधे सर पर चोट करती!

वह बड़े से बड़ा बलिदान करने को हमेशा उद्यत रहती। एक बार उसने अपने सेक्रेटरी को यह आदेश किया था कि उसके मरनेके बाद उसकी समाधिपर ये पंक्तियाँ लिखी जायँ—

"मुझे अफ़सोस है उन घड़ियों का, जिनमें मेरे शरीर पर जिरह-बख़्तर नहीं थे,

मुझे अफ़सोस है उन दिनों का, जिनमें मेरे शरीर पर कोई घाव न लगे, मुझे अफ़सोस है, और उस अफ़सोस में मैं अपने सर पर ख़ाक डाले लेती हूँ कि विजय में मेरा विश्वास और भी तीक्ष्ण और सबल न था,

मुझे अफ़सोस है, कि सिर्फ एक बार ही मुझे बनवास मिला,

मुझे अफ़सोस है कभी-कभी-मानव सुलभ भय की मैं शिकार हो जाती थी,

मुझे अफ़सोस है, मैं शर्म के साथ इसे स्वीकार करती हूँ कि मुझमें इससे भी तिगुना साहस क्यों न हुआ?"

कवि फ़र्डिनैंड मेयर की यह वाणी पीछे चलकर, रोज़ा के मित्र ब्रूनो स्खोलैंक की समाधि पर अंकित की गई थी। इन पंक्तियों का यह सदुपयोग देखकर, बाद में उसने सेक्रेटरी को लिखा—"नहीं, मेरी समाधि पर इतनी बड़ी-बड़ी चीजें लिखने की ज़रूरत नहीं थी। अभी अभी, इस बसंत में मैं बग़ीचे में गई थी। वहाँ एक छोटी-सी चिड़िया फुदकती हुई आकर, बोल रही थी—"ट्वी–ट्वी"! कैसी अच्छी, प्यारी बोली। कितनी मधुर, कितनी मासूम। अब तक जहाँ तहाँ बर्फ़ के टुकडे पड़े हैं, काफ़ी सर्दी है, किन्तु यह 'ट्वी'–'ट्वी' शब्द बताता है, बसंत आ रहा है, आ पहुँचा, आ गया! बस, बस, मेरी समाधिपर यही–"ट्वी'–'ट्वी"–ये ही दो शब्द लिखवा देना।"

कितना प्रोत्साहक, ऊपर उठानेवाला भाव! यही रोज़ा है। अपने को प्रकृति में तन्मय कर देना, मानवता के संघर्ष की विजय पर अटूट विश्वास रखना, अपने दिमाग़ में समूचे संसार को भरे रहना, ज़िन्दगी का उसकी पूरी इकाई में भोग करना,

उसके प्रयत्नों में तरलता और गति अनुभव करना—यही रोज़ा थी ! उसका उद्देश्य वाक्य था—

"आदमी को मशाल की तरह जीना चाहिये—दोनों ओर से जलता रहे, प्रकाश देता रहे !"

क़लम की धनी

पोलैंडके अधिवासी उसकी पोलिश भाषा में लिखी हुई रचनाओं को देखकर निहाल हो उठते हैं, क्योंकि उसमें वे अपने महान राष्ट्रीय कलाकारों की सभी ख़ूबिया पाते हैं। रूसी भाषा में उसने बहुत कम लिखा, किन्तु, जर्मन भाषा तो उसकी मातृभाषा ऐसी हो चली थी। उसने भाषा की आत्मा पर क़ब्ज़ा कर लिया था। उसकी पूरी शब्दावली पर उसका हुक्म चलता था। साधारण लोगों में प्रचलित मुहावरों तक का वह इस तरह प्रयोग करती थी कि उसके चलते उसकी दलीलों में रंग और ताक़त आ जाती थी।

जिस तरह हथौड़ा लोहार के हाथमें सिर्फ़ एक औज़ार मात्र नहीं रहता, बल्कि वह उसके हाथ का ही एक हिस्सा हो जाता है, उसी तरह भाषा उसके अस्तित्वका ही एक अंश हो चली थी। कभी कभी वह लम्बे वाक्यों का भी प्रयोग करती, किन्तु, वाक्यों की लंबाई उसके विचारों को उलझन में नहीं डालती। हर वाक्य निश्चित विचार का प्रतिनिधित्व करता। उसमें सुघराई और सफ़ाई झलकती। अनिच्छुक पाठकों पर अपने विचारों को लादना वह नहीं चाहती, वह उन्हें समझाती, समझाकर ही चैन लेती। वह प्रचारक नहीं, शिक्षक थी। संसार की सभी समस्याओं को एक इकाई के रूपमें देखने की कोशिश करती, जीवन की उलझनों में भी वह एकात्मता खोजती—यह खुद एक उलझन से भरी पद्धति थी, किन्तु, इससे उसकी भाषा में उलझन नहीं आने पाती, न वह पंडिताऊ होने पाती। उसमें उसकी लेखिका की ज़िन्दगी की सादगी और गर्मी झलकती, महसूस होती।

उसकी भाषा का विकास एक कलाकार के आत्म—अनुशासन को प्रगट करता है। शुरू में हम उसमें ज़्यादा रंगीनी और लच्छेदारी पाते हैं, किन्तु, पीछे वह बिना किसी साज़—शृंगार के, सीधी—सादी लड़की-सी मालूम पड़ती है। एक बार उसने अपने मित्र हान्स डिफ़ेनबाख़ को लिखा—"चाहे कला में या विज्ञान में, मेरी रुचि सादगी की ओर—शान्ति के लिये महानता की ओर प्रवृत हो रही है, इसलिये कार्ल

मार्क्स के 'कैपिटल'का बहु प्रशंसित पहला भाग शैली की दृष्टि से मुझे भयावह मालूम पड़ता है।" मालूम ऐसा होता है कि भाषा को अलंकारिक बनाने की प्रवृत्ति से उसे बहुत ही संघर्ष करना पड़ा था। उसका कलात्मक मस्तिष्क बार-बार अलंकार की ओर बढ़ना चाहता, किन्तु वह आत्म–अनुशासन की छड़ी से उसे रोकती।

बड़े-बड़े शैलीके प्रवर्तकों की तरह, वह भी शब्द चित्रों को बहुत पसंद करती। उसके शब्द चित्र जीवित, सुघर और संपूर्ण होते। उनकी परिणति या तो चिनगारियोंमें होती, या उसासों में। उसके रूपकों के पैर ज़मीन पर होते और उसकी उपमायें बड़ी दूर की उड़ान लेती हुई भी, कभी अपने को उपहासास्पद परिस्थिति तक नहीं ले जातीं।

जब किसी करुणाजनक स्थिति का वह वर्णन करने लगती, उसकी लेखनी पर जैसे सरस्वती नाच उठती। विश्वयुद्ध की समाप्ति पर, जैसे उसासें भरती हुई वह लिखती है—

"हाँ, पागलपन खत्म हुआ। देशभक्ति का कोलाहल अब सड़कों पर नहीं सुनाई पड़ता। विदेशी सोने के पीछे की दौड़धूप, झूठी अफ़वाहों का दौरदौरा, कुओं में हैज़े के कीड़े का डाला जाना, रूसी विद्यार्थिओं का हर रेलवे पुल पर बम फेंकना, फ्रांस के वायुयानों का नूरेमबर्ग पर गोले बरसाना, खुफ़ियों से भयभीत किये गये लोगों की खुराफ़ातें, होटलों में देशभक्ति के गानोंसे कान की झिल्ली का फटना, समूची जनता का वैसी खूंख़्वार भीड़ में परिणत हो जाना, जो गालियाँ दे सकती, जयजयकार कर सकती और स्त्रियों की इज़्ज़त लूट सकती है—चारों ओर खून ख़राबी, हत्या–अनाचार; जहाँ सड़कों के कोने पर खड़ी पुलिस ही मानव मर्यादा की एकमात्र प्रतिनिधि समझी जा सकती थी—उफ़ ये पागल बनाने वाली चीजें ख़त्म हुईं!"

वह प्रायः अखबारों के लिये ही लिखा करती थी, किन्तु वह पेशेवर अख़बार-नवीस नहीं थी, जो मिनिस्टरों के व्याख्यानों, धारासभाओं के क़ानून मसविदों और विदेशी सम्बन्धों पर आलोचनायें लिखने में ही अपनी क़लम की सार्थकता समझते हैं। वह सिर्फ़ गम्भीर राजनीतिक समस्याओं पर ही लिखती। अगर किसी चालू विषय पर लिखती भी तो उसे इतना ऊँचा उठा देती कि उसके द्वारा सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हो सके, पूँजीवादी पद्धति में मानवता की जो ज़िबह हो रही है, उसपर लोगों का ध्यान जा सके। १९०२ में मौंट पेलीपर ज्वालामुखी फूटा—उसने कहा, ऐसे ही ज्वालामुखी पूँजीवाद में भी फूटनेवाले हैं, जो देशों, महादेशोंको ही नहीं,

समूचे संसार को ध्वस्त-पस्त कर देंगे। १९११ में ऐन बड़े दिन के त्योहार में १५० अनाथ भिखमंगे, शराब के बदले, स्पिरिट पीकर बीमार पड़े और बर्लिन के हॉस्पिटल में दाखिल हुए, जहाँ उनमें से आधे मर गये। इस मौके पर रोज़ा ने जो लेख लिखा, उसमें सिर्फ़ उन अभागों के भाग्यपर रोना था, उनपर सहानुभूति या समवेदना प्रगट करना ही नहीं था, बल्कि उसका क्रोध उस समाजपर प्रगट हुआ था, जहाँ वैभव के बीच भिखमंगी है, जहाँ मानवता आग पीती और अपने कलेजे को जलाकर कुत्ते की मौत मरती है।

प्रकांड वक्ता

जहाँ अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाने की सबसे अधिक उत्कंठा होती है, वह रोकी नहीं जाती, उन सार्वजनिक व्याख्यानों के मौकोंपर भी वह अपने पर पूरा अनुशासन रखती। रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग एक ज़बरदस्त, मोहक वक्ता थी। किन्तु, वह शब्द-जालों में कभी नहीं फँसती। अपने प्रभावशाली शब्दों और इंगितों का प्रयोग वह बहुत कंजूसी से करती, और अपने विषय के स्पष्टीकरण से ही श्रोता के दिल पर विजय पाने की कोशिश करती। निस्संदेह, इसमें उसकी साफ़, सुरीली आवाज़ भी उसकी मदद करती। बड़े से बड़े सभागृह के कोने-कोने में उसकी बातें साफ़ सुनी जातीं और बिना प्रयत्न के ही समझती जातीं। वह व्याख्यानों का कभी नोट नहीं तैयार करती और मंच पर घूम घूम कर व्याख्यान देती। प्रारंभ के ही कुछ शब्दों में श्रोताओंपर उसका कब्ज़ा हो जाता, जो आख़िर तक बना रहता। सभी महान वक्ताओंकी तरह उसके व्याख्यानों में लोग प्रोत्साहन और नई दुनिया का स्वप्न पाते। क्षणिक उत्तेजना में लाकर, या भावनाओं को उभाड़कर, वह श्रोताओं पर विजय प्राप्त करना नहीं चाहती थी। वे खुद चीज़ों को देखें और सच्चाई पर पहुँचें, यह उसकी चेष्टा होती। सीधे-सादे ढंग से बोलती हुई, वह दलील पर दलील दिये जाती। एक चुभती उपमा, एक ज़ोरदार शब्दचित्र देकर वह गहन विषय को भी स्पष्ट कर देती, चमका देती। अपने विषय को धीरे धीरे ऊपर उठाते हुए, वह एक ऐसी जगह पहुँचती, जहाँ श्रोता अपनी स्थिति भूल जाते, विचारों की दुनियामें विचरण करने लगते। फिर वह उन्हें धीरे धीरे उस लोक से इस मानवी जगत में उतारती और वे देखते कि उनके सामने मंच पर एक दुबली-पतली औरत खड़ी है।

एक दुबली-पतली औरत-हाँ, उसके व्याख्यानों के पीछे उसका व्यक्तित्व

था, जो श्रोताओं पर सबसे ज़्यादा प्रभाव डालता। उसकी जीवनी शक्ति और कार्यशक्ति; भावना, विचार और इच्छा का समन्वय; विचारों की स्पष्टता और ओजस्विता; और आत्म-अनुशासन में साधा गया स्वभाव-ये चीज़ें श्रोताओं पर बरबश जादू डाल कर रहतीं। सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता मैक्स एडलरने १९१९ में उसके बारे में संस्मरण लिखते हुए कहा था—

"उच्छ्वसित क्रांतिकारी भावनायें इस दुबली-पतली औरत को हमेशा प्रोत्साहित किये रहतीं। पार्टी की काँग्रेसों में बार-बार ऐसे मौके आते कि अपने विपक्षियों के मखौल उड़ाने, व्यंग करने और मुँह चिढ़ाते रहने के बावजूद वह धैर्यपूर्वक अपना व्याख्यान जारी रखती और अंत में उसका जादू सब के सर पर चढ़ कर रहता-उसके विपक्षी भी अपनापा भूलकर तालियाँ पीटने और आनंद-ध्वनियाँ करने लगते। उसका दिमाग़ कभी स्वभाव पर क़ब्ज़ा नहीं छोड़ता। उसके भाषण में बिजली और चिनगारी की कमी नहीं होती, किन्तु, उसमें विचारों का ऐसा ऊहापोह होता कि वे दाहक चीज़ें न बनकर गर्मी और प्रकाश का ही दान करती"।

पार्टी काँग्रेसों के बाहर, सार्वजनिक व्याख्यानों में उसकी वक्तृत्वकला का और भी जौहर खुलता, ख़ासकर, जब वहाँ उसके विरोधियों ने भी मोर्चेबन्दी कर रखी हो। उसकी मुँहलगी चुटकियाँ, हाज़िर जवाबी और परिस्थिति की मनोवैज्ञानिक परख उसे हमेशा श्रोताओं के हृदय पर विजय दिलाती। १९०७ में जब जर्मनी की धारासभा का चुनाव हो रहा था, एक चुनाव-सभा में एक अजीब घटना देखी गई। उसकी सभ में एक पुलिस-अफ़सर बैठा था, जो जब चाहता, सभा बंद करा दे सकता था। वह नौजवान था और बार-बार टेबुल पर रखी अपनी टोपी की ओर हाथ बढ़ाता, जिसका मानी था, अब वह खड़ा होकर सभा बंद करा देगा। रोज़ा ज्योंही उसे हाथ बढ़ाते देखती, त्योंही विषय बदलकर उसे चकमे में डाल देती। एक बार तो वह उठकर खड़ा तक हो गया, रोज़ा ने तब उसे सम्बोधित करते हुए आश्वासन दिलाया कि वह क़ानून के बाहर नहीं जायगी। अफ़सर अपनी कुर्सीपर उठँग रहा। तब रोज़ा ने बताना शुरू किया कि किस तह पूँजीपतियों और मज़दूरों के झगड़े के दरम्यान मध्यमवर्ग के लोग पीसे जा रहे हैं। मार्क्स के शब्दों में किस तरह डॉक्टर, वकील, पुरोहित, वैज्ञानिक, कवि, सबके सब मुशायरे पर जीनेवाले मज़दूर बन गये हैं! सरकारी अफ़सरों की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए उसने बतलाया कि किस तरह वे

भी सरकारी ज़ुल्मों के अनिच्छुक हथियार बन जाते हैं, न उनकी रुचि का ख्याल किया जाता है, न उनकी भावनाओं पर ध्यान दिया जाता है, उन्हें मशीन बना दिया जाता है! फिर पुलिस–अफ़सर की ओर मुख़ातिब होकर उसने कहा— "कप्तान साहब, माफ़ कीजिये, आपने इस पर कभी सोचा हो या नहीं, लेकिन आपभी पूँजीवादियों के हाथ के एक हथियार हैं, जिसके ज़ोरपर वे जनता का मनमाना शोषण करते हैं।" चारो ओर से तालियाँ गड़गड़ा उठीं। अफ़सर के पीछे एक कान्सटेबल बन्दूक़ लिये खड़ाथा। बन्दूक़ छाती से उठँगीकर वह भी दोनों हाथों से तालियाँ पीट रहा था। इसी समय उसकी नज़र अपने अफ़सर पर पड़ी, जो कुर्सी पर बेचैन कसमस कर रहा था। झट तालियाँ बन्द कर उसने बँदूक सँभाली! बेचारा कुछ देर पहले अपनी स्थिति तक भूल गया था। यह था, रोज़ा का जादू!

महायुद्ध के समय जब दूसरे समाजवादी नेताओंने अपना दिमाग़ी दिवालिया-पन दिखलाया था, रोज़ा मज़दूरों में क्रान्तिकारी भावनायें भरने में दिनरात लगी रहती। वह जनता से कहती फिरती कि अभी उनकी अपनी लड़ाई आने ही वाली है, जब कि उन्हें सर्वस्व निछावर करने को तैयार होना पड़ेगा, जो अपने को समाज-वाद का हामी समझते हैं, उन्हें अपनी जान देकर अपनी सचाई का पता देना पड़ेगा। श्रोताओं में उत्साह और विश्वास भरती हुई, उन्हें ओजस्वी शब्दों में वह कहती—

"तैयार रहिये, अपने को उन दिनों के लिये तैयार कीजिये, जब समाजवाद आपसे सिर्फ़ मत नहीं माँगेगा, बल्कि आपकी प्यारी जान माँगेगा।"

ज़िन्दा मशाल

अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि उसने आततायियों के हाथों अपनी जान देकर की। रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग चल बसी, किन्तु, उसके विचार और कार्य्य तो मरने-वाले नहीं थे! उसकी मृत्यु के बाद जब जनता को सारी बातें मालूम हुईं, हत्या-कारियों को दंड दिलाने की चेष्टायें हुईं। किन्तु, रोज़ा की स्मृति के लिये क्या इतना ही काफ़ी था? नहीं, ज़रूरी यह था कि उसके कार्य्य को जारी रखा जाय, उसके विचारों को संकलित रूप दिया जाय। इसके लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय उपसमिति बनी, जिसमें चार सदस्य थे—निकोलाई बुख़ारिन, क्लारा ज़ेटकिन, जुलियन कारस्की और एडोल्फ़ बारस्की। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इन चारों व्यक्तिओं के प्रयत्न से रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के ग्रन्थों और लेखों के तीन भाग निकले।

जब चौथा भाग छप रहा था, हिटलर का जर्मनी में उदय हुआ। उसके गुर्गोंने पुस्तक के प्रूफ़ को ही नहीं ज़ब्त किया, उसके टाइप के भी टुकड़े टुकड़े कर डाले! पीछे उसकी सभी पुस्तकों की खुलेआम होली जलाई गई, उसकी समाधि को नष्टभ्रष्ट कर दिया गया!

यही सही–किन्तु, क्या इससे रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्गकी अमरतामें कमी आयगी? कभी नहीं। क्यों?–जवाब क्लारा ज़ेटकिन के मुँहसे ही सुनिये—

"रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के लिये समाजवादी विचार उसके दिल और दिमाग़ की संचालक शक्ति थे, एक ऐसी भावना जो हमेशा जलती और प्रकाश करती रहे! इस आश्चर्यमयी रमणी का एक ही कार्य्य और एक ही उद्देश्य था–सामाजिक क्रान्ति के लिये रास्ता साफ़ करना, समाजवाद के लिये इतिहास के मार्ग को प्रशस्त करना। क्रान्ति की चिनगारियों से खेलना, उसके युद्धों में हँसहँस कर तलवारें खाना–ज़िन्दगी का सबसे बड़ा आनन्द वह इसी में अनुभव करती थी। अपने पूरे प्रणसे, इच्छाशक्ति से, आत्मत्याग से और भक्ति से,–जिनका बर्णन शब्दों में हो नहीं सकता,–इस महिला ने अपनी ज़िन्दगी और संम्पूर्ण अस्तित्व समाजवाद के लिये अर्पित कर रखा था। अपनी महान करुणाजनक मृत्यु से ही नहीं, अपनी ज़िन्दगी के एक एक दिन, एक एक घड़ी, एक एक क्षण से इसने समाजवाद की अपार सेवा की। वह क्रान्ति की तेज़ तलवार और ज़िन्दा मशाल थी!"

: २ : बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

विद्रोही बालिका

ज़ामोस्क पोलैंडका एक छोटासा शहर है। यह रूस की सरहद पर पड़ता है। बहुत ही ग़रीब शहर है यह–यहाँ के लोगों का सांस्कृतिक जीवन, स्वभावतः ही, बहुत नीचे दर्जेका है। उस समय पोलैंड रुस की ज़ारशाही के चंगुल में था। ज़ारशाही के ख़िलाफ़ पोलैंड के बड़े लोगों ने १८६९ में विद्रोह किया। उस विद्रोह से चिढ़कर, बड़े लोगों को सबक़ सिखाने की ग़रज़ से, ज़ारशाही ने किसानों को ज़मीन पर अधिकार दिलानेवाले कुछ सुधार दिये थे। किन्तु, इन सुधारों के बावजूद ग़रीबों की हालत बहुत ही बुरी थी। किसान तबाह थे, मज़दूर तबाह थे; गाँव के लोगों की तबाही शहर के लोगों पर असर डाले हुये थी।

यहूदियों की तो और बुरी हालत थी। विदेशी ग़ुलामी और आम ग़रीबी की तक़लीफ़ और बदहाली के साथ–साथ उन्हें मज़हबी तअस्सुबों का भी शिकार बनना पड़ता था। यहूदी से सभी घृणा करते–उन्हें पतित और वर्जित क़ौम के मानते। ऐसे समाज में जहाँ हर आदमी अपने ऊपर के आदमी का ग़ुलाम था, यहूदी सब से निचली सतह में होने के कारण, सब के ही ग़ुलाम थे–सब की जूतियाँ, सब जगह उन पर पड़ती थीं। वे सभी लाँछन, अपमान और उत्पीड़न को इस उम्मीद पर सहे जाते कि एक दिन, उनकी धर्मपुस्तक के अनुसार उनके भाग चमकेंगे! वे सारे संसार के सर्वे सर्वा होंगे! इस भावना ने उनमें स्वार्थ की मात्रा बहुत बढ़ा दी थी–मानों कोढ़ में खाज पैदा हो गई थी!

इसी ज़ामोस्क शहरके एक यहूदी परिवारमें ५ वीं मार्च, १८७१को रोज़ा लुक्जेम्बुर्ग का जन्म हुआ था। किन्तु, उसके चरित का निर्माण और उसकी आत्माका विकास इस दूषित वातावरण में नहीं हुआ। उसका परिवार, मरुभूमि में ओसिस की तरह, इस गंदे और निर्धन शहर में समृद्ध और संपन्न माना जाता था। रोज़ा के दादा ने अपने परिवार के रुतबे को ऊँचा उठाया था। इनका लकड़ी का व्यापार था। इस व्यापारके चलते पोलैंड के बड़े लोगों से ही इनका संबन्ध नहीं था, बल्कि जर्मनी में भी इनकी आमदरफ़्त थी। उन्होंने अपने बच्चों को आधुनिक शिक्षा दी थी,

उन्हें बर्लिन और ब्रोमबर्ग तक शिक्षार्थ भेजा था। रोज़ा के पिता जर्मनी से बड़े उदार विचार लाये थे और संसार की हलचलों में काफ़ी दिलचस्पी रखते थे। यूरोप की साहित्यधारा की ओर उनका ख़ास झुकाव था। पोलैंड को रूस की ज़ारशाही से मुक्ति दिलाने के लिये जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन चल रहा था, उससे उनकी सहानुभूति थी; किन्तु, उन्होंने अपना समय सांस्कृतिक कार्य्यों में ही लगाना तय किया था। वह उस कोटि के लोग थे, जिनके चलते आज संसार भर में यहूदियों का नाम कला, विज्ञान और समाजसेवा के क्षेत्र में सम्मान के साथ लिया जाता है।

रोज़ा इनकी पाँच संतानों में सबसे छोटी थी। बचपन में ही उसकी कमर के नीचे कुछ दर्द शुरू हुआ, जिसे हड्डी की थाईसिस मानकर चिकित्सा की गई। पीछे यह निदान ग़लत साबित हुआ, किन्तु, इसके चलते जो नुक़सान हुआ, उसने रोज़ा की ज़िन्दगी पर हमेशा के लिये छाप डाल दी।

वह बड़ी खुशमिज़ाज लड़की थी, बड़ी कार्यशील और मेधावी। जिसने उसे देखा, उसपर मुग्ध हुआ। पाँच वर्ष की उम्र में ही उसने लिखना–पढ़ना सीख लिया। शुरू में उसने पोलैंड की मातृभाषा सीखी, किन्तु, जर्मन–भाषा भी उसके परिवार के व्यवहार में थी, फलतः बचपन से ही वह उससे भी परिचित हो गयी। बुज़ुर्गों को ख़त लिखते देख उसके मन में भी ख़त लिखने की प्रवृत्ति जगी। वह अपने माँ–बाप और भाई–बहन के नाम, एक ही घर में रहनेपर भी, अपने मनोभावों को ख़त लिखकर भेजती और उनसे तक़ाज़ा करती कि लिखकर ही उसे जवाब दिया जाय। बचपन से ही वह जर्मन कविता और गद्य को पोलिश भाषा में अनुवाद करने लगी। उसकी पहली रचना बच्चों के एक मासिक पत्र में भेजी गई थी। छुटपन से ही उसे पढ़ाने का भी शौक़ था। ज्यों ही उसने पढ़ना–लिखना सीखा, कि घर के नौकरों की गुरुआनी बन बैठी!

उसके बचपने की एक बड़ी मज़ेदार घटना है। एक दिन चिराग़ बालते समय उसने जिस काग़ज़ को जला डाला, वह साधारण काग़ज़ नहीं, बल्कि नोट था और उस दिन घर में सिर्फ़ उतना ही नक़द बच रहा था। किन्तु, इससे उसके माँ–बाप नाराज़ नहीं हुए, बल्कि उसकी प्रगल्भता पर खूब हँसेही!

रोज़ा की माँ का प्रभाव बच्चों पर अधिक था, रोज़ा पर भी। वह साधारण यहूदी स्त्री से ज़्यादा सुसंस्कृत और सुशिक्षित थी। धर्म–पुस्तकों के अतिरिक्त साहित्य से उसकी बड़ी रुचि थी। जर्मन और पोलिश भाषाओं के काव्यग्रन्थों की

ओर उसका विशेष झुकाव था। रोज़ा की साहित्यिक प्रवृत्ति को परिपुष्ट करने में उसकी माँ का बड़ा हाथ था। रोज़ा कविता पढ़ने में ही तल्लीन नहीं रहती, बचपन में कविता रचने का भी उसे शौक़ था। रोज़ा की इस प्रतिभा और मेधा पर उसके परिवार को बड़ा नाज़ था और जो कोई नया आदमी परिवार में आता, उसके नज़दीक रोज़ा को ज़रूर पेश किया जाता। किन्तु, अपने को प्रदर्शन की चीज़ बनाने से वह प्रायः इन्कार कर देती और जब ज़िद की जाती, तो आगन्तुक को ऐसी व्यंग-कविता रचकर सुना देती, जो उन्हीं पर लागू होती।

जब वह तीन वर्ष की थी, तभी रोज़ा के पिता अपना परिवार लेकर ज़ामोस्क से वारसा चले आये। वह अपने बच्चों को जैसी शिक्षा देना चाहते थे, उसका प्रबंध ज़ामोस्क में नहीं हो सकता था।

घर पर की प्रारंभिक शिक्षा के बाद रोज़ा का नाम वारसा के एक हाईस्कूल में लिखाया गया। किन्तु, उस समय पोलैंड के हाईस्कूलों की अजीब हालत थी। हर जगह रूसी भाषा का बोलबाला था। प्रमुख स्कूलों में रूसी अफ़सरों के बच्चों के अलावा बहुत कम लोगों को अपने बच्चे भेजने की इजाज़त मिल पाती! यहूदियों के लिये तो सख्त मुमानियत थी। दूसरे दर्जे के स्कूलों में भी यहूदी बच्चों को मुश्किल से जगह मिलती। ऐसे ही एक स्कूल में रोज़ा का नाम लिखाया जा सका था। स्कूल में बच्चों को वाध्य किया जाता था कि वे आपस की बातचीत भी रूसी भाषा में ही करें। रूसी शिक्षक इतने नीचे उतरे हुए थे कि वे बच्चों पर खुफ़िया का काम भी करते थे।

इस प्रकार के संकीर्ण दमन का नतीजा यह था कि बच्चों के दिलों में शिक्षकों के प्रति बग़ावत और नफ़रत भरी हुई थी। वे प्रायः ही विरोधी प्रदर्शन कर बैठते। जब जब बाहर कुछ राजनीतिक हलचल होती, स्कूलों में हड़तालें और मुज़ाहरे हो जाते। स्कूलों में गुप्त षड्यंत्रों का भी दौरदौरा था। देशप्रेम में मस्त विद्यार्थी चुपके-चुपके दल बनाते और अपने देश को आज़ाद करने के मधुर स्वप्न देखते। अपने परिवार के उदार विचार और देशभक्ति की भावना के कारण रोज़ा इन प्रदर्शनों में खुलकर साथ देती। थोड़े ही दिनों में वह इसके लिये इतनी बदनाम हो गई कि स्कूल छोड़ने के समय योग्यता के कारण जिस सोने के तमग़े की वह हक़दार थी, उसे "अधिकारियों के प्रति उसके विद्रोही रुख़ के कारण" रोक लिया गया, उसे नहीं दिया गया।

रोज़ा ने १८८७ में स्कूल छोड़ा। इसका पता नहीं चलता कि स्कूल की पढ़ाई के समय वह किसी षड्यंत्रकारी दल की सदस्या थी या नहीं। किन्तु, इस में तो शक ही नहीं कि उसके हृदय में जो आग जल रही थी, उसकी गर्मी को वह उस समय भी छिपाकर नहीं रख सकती थी! किन्तु, स्कूल छोड़ने के थोड़े ही दिनों बाद हम उसे "प्रोलेतारियत" नामक एक समाजवादी संस्था की सदस्य के रूप में पाते हैं और थोड़े ही दिनों के अन्दर पुलिस की नज़रों में वह इस तरह चढ़ जाती है कि उसे अपने देश को ही त्याग देना पड़ता है।

प्रोलेतारियत की सेवा में

जिस समय बालिका रोज़ा स्कूल में पढ़ रही थी, उस समय रूस और रूस की ज़ारशाही की चक्की में पिसते हुए उसकी मातृभूमि पोलैंड में अजीब उथल पुथल मची हुई थी। ज़ारशाही के अत्याचारों से आजिज़ आकर रूस के नौजवानों ने षड्यंत्र का एक जाल-सा बिछा रखा था और उन्हें यह फ़ख़ हासिल था कि उन्होंने एक ज़ार (अलेक्ज़ेन्डर द्वितीय) की हत्या कर डाली थी (१ मार्च १८८१)। किन्तु, जिस तरह ज़ार की इस हत्या की चेष्टा में किबैलशिच भी अपने ही बम की चोट से उड़ गया, उसी तरह इस हत्या के बाद जो दमन शुरू हुआ, उसने वहाँ के उस षड्यंत्रकारी आन्दोलन को भी नष्ट भ्रष्ट कर डाला इसके बाद वहाँ ऐसे लोग राजनीतिक रंगमंच पर आये, जिन्होंने नई पुकार दी। वे कहने लगे—व्यक्तिगत बलिदानों से आप अपनी आदर्श प्रवणता और भावुकता भले ही संसार पर प्रगट करें, किन्तु आज़ादी प्राप्ति के लिए आपको जनता तक पहुँचना पड़ेगा, उसके संगठन में जुटना पड़ेगा, तभी आप सफलता प्राप्त कर सकेंगे। ये लोग समाजवादी थे और मज़दूरों के संगठन पर इनका सबसे अधिक ध्यान था। रूस के ऐसे लोगों में प्लैख़नौव का नाम सबसे आगे आता है और बाद लेनिन ने आकर इस विचार में चार चांद लगा दिये, उसे कार्यरूप में परिणत कर दिखलाया।

पोलैंड में भी षड्यंत्रकारियों के अड्डे थे और यहां भी जब-तब आतंकवादी कार्य होते ही रहते थे। किन्तु, धीरे धीरे यहां भी इस नई समाजवादी विचारधारा का संचार होने लगा था। इसके दो कारण थे। एक तो पोलैंड में उद्योग धंधे का अधिक विकास हो चला था; दूसरे पश्चिमी यूरप के यह सन्निकट था। ज़ारशाही का संरक्षण

पाकर पोलैंड का पूँजीवाद बड़ी तीव्र गति से उन्नति कर रहा था। सौ में सौ नफ़ा तो एक साधारण बात थी। उस नफ़े के लिए मज़दूरों से १४–१५ घंटे रोज़ाना काम लिया जाता, उन्हें कम मज़दूरी दी जाती, उन्हें घिनौने ढंग से रखा जाता और मार पीट कर उनसे काम लिया जाता। इन मज़दूरों की ओर पोलैंड के उन नौजवानों का ध्यान गया, जिनके कानों में कार्ल मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों के मंत्र पड़ चुके थे। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड में मज़दूर आन्दोलन की नींव पड़ चुकी थी। जर्मनी से सटे पोलैंड में उसका असर पड़ना ही था।

पोलैंड का समाजवादी आन्दोलन रूस से पाँच वर्ष पहले, १८७७ में ही शुरू हो जाता है। लुडविग वारिंस्की नामक एक नौजवान विद्यार्थी ने, अपने कुछ उत्साही दोस्तों के साथ, इस काम में हाथ डाला। वारिंस्की बड़ा ही साहसी, उत्साही और दूरदर्शी व्यक्ति था। वह और उसके साथी कारख़ानों में जाते, मज़दूरों के छोटे-छोटे केन्द्र क़ायम करते, उनकी रक्षा के लिए फंड इकट्ठा करते, उनसे हड़ताल करवाते और उनमें जो लोग बुद्धिमान होते, उन्हें समाजवाद का ज्ञान देते। उन नौजवानों की कठिनाइयों की गिनती नहीं थी। उनके केन्द्र बार-बार तोड़ दिये जाते, बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां होतीं। मुक़दमे चलते। लम्बी लम्बी सज़ायें मिलतीं। चार वर्षों के अन्दर उनके १२० सदस्यों को क़ैद और देश निकाले की सज़ा मिली थी।

किन्तु, इन कठिनाइयों और सज़ाओं के बावजूद काम बढ़ता ही गया और १८८२ में मज़दूरों की एक बाज़ाब्ता क्रान्तिकारी पार्टी क़ायम की गई, जिसका नाम "प्रोलेतारियत"—सर्वहारा मज़दूर—रखा गया। जन्म के एक वर्ष बाद ही इस पार्टी की मुठभेड़ वारसा की पुलिस से हो गई। पुलिस ने कारख़ानों में काम करने वाली औरतों के लिए एक नियम बनाया, जिसके अनुसार, रंडियों की तरह, उन्हें अपने शरीर की जाँच करानी पड़ती। 'प्रोलेतारियत' ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और उनकी आज्ञा पर एक कारख़ाने के ६,००० मज़दूरों ने हड़ताल की। हड़ताल को फ़ौलादी हाथों से दबा दिया गया, किन्तु, जिस उद्देश्य से हड़ताल की गई, वह सफल हुआ। औरतों को इस ज़लील हुक्मनामे से फ़ुर्सत मिली।

अब पुलिस इस पार्टी के पीछे पड़ी और १८८५ में एक षड्यंत्र केस चलाया गया, जिसमें चार आदमियों को फांसी हुई, तेईस को लम्बी क़ैद की सज़ायें मिलीं और लगभग दो सौ आदमियों को देश-निकाले का दंड दिया गया।

वारिंस्की ने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में अपनी पार्टी की नीति और उद्देश्य को अदालत के सामने रखा। उसे फाँसी तो नहीं दी गयी, हाँ १६ वर्ष सख्त क़ैद की सज़ा पाकर वह धीरे धीरे जेल में ही शहीद हो गया। इस मुक़दमे से पार्टी तहस-नहस हो चुकी थी। किन्तु मार्टिन कैस्पूज़ांक नामक एक मज़दूर उसकी धूनी रमाये बैठा था कि रोज़ा ने इसमें प्रवेश किया।

स्कूल जीवन की इस विद्रोही बालिका ने अब क्रान्तिकारी समाजवाद के क्षेत्र में प्रवेश किया। रोज़ा के लिए कोई दूसरा क्षेत्र हो भी नहीं सकता था। दलितों और पीड़ितों से उसकी स्वाभाविक सहानुभूति और समवेदना थी। वह एक दलित क़ौम की थी, दलित देश की थी। ज़िन्दगी में जहाँ कहीं उसने दुःख और अत्याचार देखे, उन्हें अपना समझ उनके ख़िलाफ़ भिड़ गई। किन्तु, अपनी तीक्ष्ण मेधा से वह जान गई कि सभी दुःखों और अत्याचारों के प्रतिकार का एक ही उपाय है—संसार को नये नियम पर बसाया जाय, एक नई नींव पर खड़ा किया जाय। वह नियम, वह नींव क्या हो सकती है? पार्टी में आने पर उसकी नज़रों से मार्क्स और एंजेल्स के साहित्य गुज़रे। उस समय वे साहित्य गुप्त ढंग से ही बँटते थे। उन्हें पढ़ कर इस नतीजे पर पहुँचने में उसे देर नहीं लगी कि सारे रोगों की एक ही रामबाण औषध है और वह है समाजवाद!

प्रोलेतारियत पार्टी में आने के बाद उसने ज़ोरशोर से काम करना शुरू कर दिया। उसकी ऐसी प्रतिभाशील युवती के काम का प्रभाव पुलिस की आंखों से छिप नहीं सकता था। ऐसी चर्चा होने लगी कि पुलिस उसे फँसाने के फेर में है और उसके लिए साज़िशें रची जा रही हैं। रोज़ा इन चीज़ों से डरनेवाली नहीं थी, किन्तु, उसके साथियों ने इस मुसीबत के दिनों में उसके ऐसे मेधावी, कर्मशील मेम्बर को खोना मुनासिब नहीं समझा और उससे आग्रह किया कि वह ज़ूरिच चली जाय। लेकिन प्रश्न यह था कि ज़ूरिच जाया जाय कैसे? पोलैंड से बाहर बिना पासपोर्ट के जाना मना था। पासपोर्ट न होने से पकड़ जाने का ख़तरा लगा था। कास्पज़ांक ने एक तिकड़म की। रोज़ा को गुपचुप पोलैंड और जर्मनी की सरहद तक वह ले गया। सरहद पर एक गांव था। कास्पज़ांक उस गांव के पादरी से मिला और कहा कि एक यहूदी लड़की ईसाई बनना चाहती है, किन्तु, उसके घरवाले इसके बड़े ही ख़िलाफ़ हैं। इसके लिए जरूरी यह है कि उसे गुपचुप सरहद के उस पार कर दिया जाय, जहाँ वह किसी गिरजे में जाकर ईसाई मत ग्रहण कर लेगी। बेचारा पादरी चकमे में आ गया। रोज़ा ने कुछ ऐसी धार्मिक भावुकता

दिखलाई, कुछ इस तरह गिड़गिड़ाई कि पादरी पसीज उठा। किसान की एक गाड़ी पर खरपात डाल दी गयी। रोज़ा उस खरपात के भीतर जा घुसी। पादरी साहब ने वह गाड़ी सरहद के पार पहुँचवा दी। पोलैंड की पुलिस देखती रही, रोज़ा स्वच्छन्द चिड़िये की तरह ज़ूरिच जा पहुँची।

यह १८८९ की घटना है। रोज़ा उस समय अठारह वर्ष की नवयुवती-मात्र थी। अठारह वर्ष की नवयुवती की यह साधना! घर-द्वार छोड़कर, सुख-ऐश्वर्य छोड़कर, प्यारी माँ और स्नेही पिता को छोड़कर, अपने चिरसंगी भाई-बहनों को छोड़कर वह इस परिस्थिति में, तपस्विनी की तरह, चली—कहाँ! जहाँ ज़िन्दगी भर संघर्ष है, तपस्या है, हलचल है,—आज यहाँ, कल वहाँ! और, जहाँ इस कठोर ज़िन्दगी को भी पूर्ण करने का......! लेकिन नहीं, अभी उस निर्मम, निष्ठुर घटना की ओर इशारा भी उचित नहीं!

बनवास की ओर

रोज़ा ज़ूरिच पहुँची। एक कठोर ग़ुलामी वाले देश से, यूरोप के सबसे आज़ाद देश में। नीची, सीलभरी, सड़ी हुई सरज़मीन से हवादार, प्रकाशमयी ऊँचाई पर। ज़ूरिच उस समय रूस और पोलैंड के देशभक्तों का अड्डा बना हुआ था। वहाँ का विश्वविद्यालय इन देशभक्तों की विद्यापीठ समझा जाता था। ज़ारशाही और उसकी पुलिस से परेशान युवक और युवतियाँ वहां आते, पढ़ते और इस पढ़ाई के सिल-सिले में ही संसार को बहुत ही निकट से देखने और समझने की कोशिश करते। उनमें से कितनों ने लम्बी क़ैद भुगती थी, कितनों ने साइबेरिया की हवा खाई थी। अपने परिवार और समाज से उन्हें परिस्थिति ने ज़बर्दस्ती अलग कर दिया था। वे उन मध्यवित्त विद्यार्थियों से बिलकुल दूसरे क़िस्म के थे, जो सिर्फ़ भविष्य जीवन के आनन्द और मौज के लिए किताबें रटा करते हैं। उन्हें अपने भविष्य की परवाह नहीं थी। वे तो मानवता के भविष्य के निर्माण में अपने को अर्पित कर चुके थे। वे बहुत ही सादे ढंग से रहते। उनके उपनिवेश में स्त्रियों और पुरुषों के समान पद और हक़ थे। आज़ाद विचार का उनमें बोलबाला था। किन्तु, सदाचार के नियमों की पाबंदी में वे ऋषियों को भी मात दे सकते थे। ग़रीबी तो उनके भाग्य में लिखी थी, किन्तु, इसके चलते उनमें एकता का अटूट बंधन भी था।

ज़ूरिच के होटलों में शराब पीने, नाचने और मौज उड़ाने वाले विद्यार्थियों

से उनका जीवन बिल्कुल अलग था। कम रोटी और ज़्यादा चाय; तंग ठंडे कमरे में सिगरेट के धुएँ का बादल; चमकती आँखें और उत्तेजना भरे इशारे; उमंग और उत्साह से शराबोर वे बहस पर बहसें किये जा रहे हैं। उनकी बहसों के लिए विषय क्या कम थे? विज्ञान और दर्शन, डार्विन का विकासवाद, स्त्रियों की मुक्ति, मार्क्स और ऐंजेल्स के सिद्धान्त, टाल्स्टाय का संन्यासवाद, रूस के किसान, निहलिस्ट विचारधारा, बाकुनिनका अराजकतावाद, ब्लैंकी का आतंकवाद, पूँजीवाद का विकास और पतन, पोलैंड की राष्ट्रीय स्वाधीनता, तुर्जनेव की साहित्यशैली यों ही हज़ारों विषय जिन पर की गई बहसों का एक ही नतीजा—क्रांति, इन्क़लाब! इनमें से बहुतों की तक़दीर में अपने देश लौटने पर फाँसी चढ़ना या जेलों में घुलघुल कर मरना लिखा था। हाँ, उन में से कुछ त्याग के मार्ग से विचलित होकर फिर अपनी दुनियादारी में भी लग गये और वे कैसे जिये, कब मरे इसका पता भी दुनिया को नहीं है। उनमें से बहुत कम लोगों को यह सौभाग्य मिला कि जिस तूफ़ान में उन्होंने अपने को डाला था, उससे सफलता पूर्वक बाहर आयें और स्वप्नों को सत्य के रूप में देख पायें।

रोज़ा ज़ूरिच पहुँचकर विद्यार्थियों की इस जमात के सम्पर्क में आयी। उनकी बहसों में वह भी शामिल होती, लेकिन, उसे इस बात से निराशा होती कि ये बहसें प्रायः फ़िज़ूल ही जातीं; इनसे किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जाता। इन चीज़ों में वह एक रोमांचकारी रहस्यवाद पाती–ठोस वैज्ञानिक तथ्य की ओर कम ध्यान दिया जाता। संयोग से उसे प्रसिद्ध समाजवादी लेखक लुबेक के घर में जगह मिल गई, जो बेचारा रोग से बिल्कुल ही अपाहिज हो चला था, किन्तु, अपनी रोज़ी किसी तरह क़लम के बल से चला लेता था। रोज़ा ने उसके लिखने पढ़ने में बड़ी मदद की। जर्मनी के मज़दूरों पर उसने जो किताबें लिखीं, उनके तैयार होने में रोज़ा का हाथ कम न था। कभी कभी तो वह स्वतंत्र लेख तैयार करती, जो लुबेक के नाम से छपने के कारण काफ़ी पैसे भी लाते। कुछ दिनों के बाद तो रोज़ा इस घर की मालकिन-सी बन गई।

ज़ूरिच विश्वविद्यालय में उसने अपना नाम लिखाया। उसने अपना विषय रखा—प्राकृतिक विज्ञान। पौधों और पशुओं की ज़िन्दगी से जो उसका अनुराग था, वह ज़िन्दगी भर उसमें एक व्यसन-सा रहा। जब-जब राजनीति से उसे थोड़ी भी फ़ुर्सत मिलती, कि वह इसमें लग जाती। किन्तु, कुछ दिनों तक प्राकृतिक विज्ञान के पढ़ने के बाद, उसे राजनीति विज्ञान की ओर आकृष्ट होना पड़ा। वह शुरू से

ही अच्छी तरह समझती थी कि उसे अपनी ज़िन्दगी राजनीतिक क्षेत्र में ही व्यतीत करनी है, अतः, इस विषय का पूरा ज्ञान हासिल कर लेना उसने आवश्यक और अनिवार्य समझा। किन्तु, क्या कालेजों में राजनीति की पूरी शिक्षा मिल सकती है? ज़ूरिच के कालेज में जो राजनीति के प्रोफ़ेसर थे, जुलियस उल्फ़, वह अपने ज़माने के नामी राजनीतिशास्त्रज्ञ थे, इसमें शक नहीं। किन्तु, राजनीतिक अर्थशास्त्र पर उनके विचार बिल्कुल पूंजीवादी थे। क्लास में रोज़ा से उनकी प्रायः झड़प हो जाती। वह ऐसे-ऐसे प्रश्न कर देती कि उल्फ़ साहब सिटपिटा कर रह जाते, सर खुजाने लगते; इधर क्लास के लड़के तालियां पीटते। किन्तु, यह उल्फ़ की महानुभाविता है कि अपनी आत्मकथा में उसने अपनी इस "सबसे अधिक मेधावी शिष्या" की खुलकर तारीफ़ की है।

कालेज जीवन में ही रोज़ा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आडम स्मिथ और रिकार्डो के ग्रन्थों को बड़े मनोयोग से पढ़ गई। कार्ल मार्क्स के जो ग्रन्थ उपलब्ध थे, उनका तो, जैसे धर्म ग्रंथ की तरह, उसने अध्ययन किया।

अपने अध्ययन के साथ ही साथ रोज़ा ने ज़ूरिच के मज़दूर-आन्दोलन में भी दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया। उस समय ज़ूरिच में रूस के मज़दूर-आन्दोलन के जो नेता थे, उनके सम्पर्क में भी वह आई। प्लैखनौव, जो अपने ज़माने का सबसे बड़ा मार्क्सवादी समझा जाता था, एक्ज़लरौड जो रूसी समाजवादी पार्टी का कर्त्ताधर्ता माना जाता था, वरो सैस्सुलिच, जिस रूसी महिला की धाक यूरोप के सभी मार्क्सवादियों पर थी—इन लोगों के सान्निध्य से रोज़ा के विचारों में और भी पुष्टता आई। कालेज के कुछ विद्यार्थियों से उसकी घनिष्ठता बढ़ी, जिनमें से जुलियन मार्चलेवेस्की और एडौल्फ़ वारस्की उसके राजनीतिक कार्य में हमेशा के लिए सहयोगी बन गये। किन्तु, सबसे बढ़ कर, इसी ज़ूरिच ने रोज़ा को एक जीवन संगी दिया, जो ज़िन्दगी भर उसके कार्यों में शरीक़ रहा और मौत की राह पर भी उसने उसे अकेले नहीं छोड़ा!

जीवन-संगी

रोज़ा के ज़ूरिच आने के एक वर्ष बाद एक नौजवान वहाँ पहुँचा। उसने भी अपनी ज़िन्दगी पोलैंड और रूस के मज़दूरों की सेवा में अर्पित कर रखी थी। ज़ूरिच में आने के थोड़े ही दिनों बाद उसकी दोस्ती रोज़ा से हो गई और यह दोस्ती अन्ततः ज़िन्दगी और मौत का अटूट बंधन साबित हुई।

उस नौजवान का नाम था, लिओ जोगिचेस। वह एक असाधारण पुरुष था। उसकी पूरी ज़िन्दगी षड़यन्त्रकारी कार्यों के रहस्य-जाल में ढकी रही। जो उसके नज़दीक काम करते, वे भी उसके बारे में बहुत कम जानते। वह बहुत ही गम्भीर बना रहता और अपने गत जीवन के बारे में कुछ बोलता ही नहीं। जब जर्मनी के 'स्पार्टकस लीग' के नेता की हैसियत से वह शहीद हुआ, तब उसके साथियों और अनुयायियों को उसके जीवन की घटनायें एकत्र करने में बड़ी कठिनाई हुई-बड़ी मुश्किल से थोड़ी बातें जानी जा सकीं।

वह रोज़ा से उम्र में चार वर्ष बड़ा था। विलना शहर के एक धनी यहूदी परिवार में उसका जन्म १८६७ में हुआ था। उसके पितामह बड़े विद्वान थे। उसके पिता ने अपने को रूसी रंगढंग में इस तरह रँग लिया था कि परिवार में यहूदी भाषा बोली तक नहीं जाती थी। हाई स्कूल में पढ़ते समय से ही लिओ अपने साथियों में क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया करता। परीक्षा पास करने के पहले ही उसने स्कूल छोड़कर पूरा समय क्रान्तिकारी कार्यों में देना शुरू कर दिया। १८८५ में, जब वह सिर्फ १८ वर्ष का था, उसने अपने शहर विलना में एक छोटी-सी क्रान्तिकारी संस्था खोली। यह संस्था अधिक विकसित नहीं हो सकी, क्योंकि एक तो यहाँ के मज़दूर बड़े ही कमज़ोर थे, फिर पढ़े लिखे लोगों में आंतक छाया हुआ था। तो भी इस संस्था के कारण कई प्रसिद्ध समाजवादी नेता पैदा हुए। इसी संस्था में चार्ल्स रप्पापोर्ट की दीक्षा हुई थी, जो, पीछे फ्रांसीसी समाजवादी पार्टी के सिद्धान्त-दाता के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जोगिचेस का प्रभाव अपने अनुयायियों पर बहुत ही गहरा था। उनमेंसे एक कहता है—"जोगिचेस बड़ाही चतुर और प्रभावशाली वक्ता था और उसकी उपस्थिति उसकी महत्ता को आप ही आप प्रगट कर देती थी। समाजवादी की हैसियत से अपने कार्य में वह बिलकुल तल्लीन रहता। और हम लोग उसे देवता की तरह मानते थे।" अपने को कठोर अनुशासनों में उसने ढाल रखा था और क्रान्तिकारी कार्य के लिए वह सबकुछ करने को तैयार रहता था। उसने छापने, ब्लाक बनाने आदि के काम भी सीख लिये थे। कभी वह किसी कारखाने में जाकर कारीगर का काम करता था, तो कभी फौज़ में जाकर सैनिकों का गुप्त संगठन करता था। अपने को अनुशासित रखना और दूसरों से भी कड़ा अनुशासन वसूल करना उसका स्वभाव था। गम्भीर अध्ययन के द्वारा उसने अपनी योग्यता बहुत बढ़ा ली थी और अपने साथियों को भी पढ़ने लिखने में हमेशा

लगाये रहता था। रूसी क्रांति में प्रसिद्धि-प्राप्त काल रडक उसके अनुयायियों में था। रैडक ने लिखा है कि १९०५ की क्रान्ति की असफलता के चलते जब चारों ओर अजीब घबराहट और उलझन फैली हुई थी, उसने रैडक को अनेक पुराने विस्मृतप्राय ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए बाध्य किया था, जिन्होंने रैडक के विचारों को स्पष्ट कर दिया।

तीन-चार वर्षों तक ही वह काम कर सका था कि १८८८ में उसे गिरफ्तार कर विलना के क़िले में क़ैद कर लिया गया। रिहाई के बाद फिर थोड़े दिनों में ही, १८८९ में, वह गिरफ्तार किया गया और इस बार चार महीनों के बाद उसको छुटकारा मिला। अब पुलिस उसके पीछे पड़ी थी। उसने समझ लिया, अब यहाँ वह काम नहीं कर सकेगा। वह अपनी प्यारी मातृभूमि को छोड़कर भागा और ठीक रोज़ा की ही तरह सरहद पर चकमा देकर ज़ूरिच आ पहुँचा। हाँ, जहाँ रोज़ा की गाड़ी में खरपात थी, वहाँ, जोगिचेस ने अपने को कीचड़ में छुपा लिया था।

ज़ूरिच आने पर वह प्लेख़नौव से मिला। उसके पास काफ़ी पैसे थे, जिसे वह समाजवाद के प्रचार में व्यय करता आया था। उसने प्लेख़नौव से कहाकि एक अख़बार निकाला जाय। मैं उसके लिए पैसे दूँगा। प्लेख़नौव राज़ी हो गया और एक शर्तनामा भी तैयार कर लिया गया। किन्तु, शर्तों को लेकर गड़बड़ी हो गई। प्लेख़नौव अख़बार पर अपना पूरा अधिकार चाहता था। एक तो उसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान था, दूसरे, वह एक नवयुवक नये आदमी के हाथ में इतना बड़ा अस्त्र देना नापसंद करता था। किन्तु, उम्र छोटी होने पर भी जोगिचेस को अपने और अपनी योग्यता पर कम विश्वास नहीं था। उसने प्लेख़नौव के निकट आत्म समर्पण करने से इन्कार कर दिया।

इसी समय उसकी मुलाक़ात रोज़ा से हुई। जो पहले राजनीतिक सम्बन्ध के रूप में शुरू हुई, वह अन्त में जीवन सम्बंध में परिणत हो गई ! दोनों ने विवाह कर लिया। ऊपर से देखने पर दोनों का यह आकर्षण और प्रणय कुछ विचित्र मालूम होता है। रोज़ा एक खुश मिज़ाज लड़की; भावुक स्वभाव और तीक्ष्ण मेधा; अपनी प्रतिभा को चारों ओर वितरण करने को उत्सुक ! और, लिओ—कठोर और अनुशासित चरित, कर्त्तव्य के लिए ही जीनेवाला, कर्त्तव्य को पंडिताई की सूक्ष्मता तक बढ़ाकर ले जानेवाला, दूसरे से भी वैसी ही कठोर कर्त्तव्य-साधना की मांग करनेवाला और

ज़रूरत पड़ने पर अपने और दूसरे को कर्त्तव्य की बेदी पर ज़िन्दा ही उत्सर्ग कर देने को तत्पर ! उसकी भावुकता पर कठोरता ने विजय प्राप्त कर ली थी। यों, ज़मीन आस्मान का अन्तर मालूम होता है। किन्तु, इन दोनों की यह प्रवृत्ति दोनों के लिए कमज़ोरी नहीं, बल्कि बल का कारण सिद्ध हुई। एक के अभाव की दूसरे में पूर्ति होती। दोनों महान थे, किन्तु, उनकी महानता कभी टकराई नहीं। उनका यह पवित्र सम्बन्ध स्थायी रहा। मौत भी इसको तोड़ नहीं सकी !

सुप्रसिद्ध जर्मन विदुषी क्लारा ज़ेटकिन ने लिखा है—" लिओ की पैनी आलोचना की खराद पर चढ़कर रोज़ा की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रचनायें और कार्यवाहियाँ और भी चमक उठीं। वह सचमुच एक महापुरुष था। ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जो अपने महान व्यक्तित्व को छाया में रख कर भी अपनी अर्द्धांगिनी की महानता को बढ़ते और फूलते फलते देखकर आनन्द अनुभव करते हैं।"

संघर्ष का श्रीगणेश

जूरिच में आने के बाद, रोज़ा सिर्फ अध्ययन में ही लीन नहीं रहीं; मज़दूरों की क्रियात्मक सेवा के क्षेत्र में भी उसने क़दम बढ़ाये और थोड़े ही दिनों में यूरोप के समाजवादी हल्के में उसकी प्रसिद्धि हो गई।

पोलैंड में " प्रोलेतारियत " पार्टी के अलावा " वर्कर्स लीग "—मज़दूर-संघ के नाम से एक और संस्था क़ायम हो चुकी थी। इन दोनों संस्थाओं में पहले प्रतिस्पर्द्धा थी, किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद आपस में सहयोग की भावना बढ़ने लगी। दोनों संस्थाओं ने मिलकर १८९२ में पोलैंड भर में 'मई-दिन' मनाया था, जिसमें वार्सा के ८००० मज़दूरों ने और लोद्ज़ के ६०,००० मज़दूरों ने हिस्सा लिया था। लोद्ज़ में मज़दूरों की पुलिस से मुठभेड़ हो गई, जिसमें ४६ मज़दूर गोलियों के शिकार बने और २०० से ज़्यादा घायल हुए। मज़दूरों के इस खून ने दोनों संस्थाओं के भेद-भाव को दूर कर दिया। इन दोनों संस्थाओं तथा दो एक और छोटी मोटी संस्थाओं को मिलाकर " पोलैंड-सोशलिस्ट पार्टी " की स्थापना की गई। इस पार्टी का मुखपत्र " स्प्रावा सेवोत्निकज़ा " (मजदूरों का पैग़ाम) नाम से निकाला गया। लिओ जोगिचेस इस पत्र का संस्थापक और एडैल्फ़ वार्सकी इसका सम्पादक था। निस्सन्देह ही रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग इस पत्र की प्रमुख संचालिका-शक्ति थी।

थोड़े ही दिनों में इस पार्टी और इसके मुखपत्र की धूम मच गई। किन्तु, पोलैंड के कुछ पुराने समाजवादी नेताओं की आंखों में यह उन्नति खटकने लगी। उन लोगों ने इस पार्टी के इन नौजवान नेताओं के खिलाफ़ तरह-तरह की ग़लत बातों का प्रचार करना शुरू किया। जिस कास्पर्ज़ाक ने रोज़ा को कार्यक्षेत्र में पदार्पण कराया था, सबसे पहले वही उनका निशाना बना। वे कहने लगे कि कास्पर्ज़ाक तो रूसी खुफ़िया पुलिस का एजेंट है। वह बेचारा कभी रूसी जेल में, कभी जर्मनी के जेलों में सड़ता रहा; उसका स्वास्थ्य चौपट हो गया; किन्तु, तो भी इनके मुँह बन्द नहीं हुए। लाचार बीस वर्षों तक उस भलेमानस के पीछे वे लोग पड़े रहे। मज़दूरों की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की ओर से इसकी जांच कराई गयी, वह निर्दोष पाया गया, किन्तु, इन की विषैली जिह्वायें तब तक अपना काम करती रहीं, जब तक कि वह फांसी के तख्ते पर नहीं चढ़ा दिया गया।

समाजवाद के पिता कार्ल मार्क्स ने मज़दूरों की पहली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था १८६४ में क़ायम की थी। वह पहली इन्टरनेशनल के नाम से मशहूर हुई। पहली इन्टरनेशनल के खतम हो जाने के बाद, मार्क्स की मृत्यु के पश्चात, १८८९ में मार्क्स के प्यारे सखा ऐंजल्स ने दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था—सेकेन्ड इन्टरनेशनल की स्थापना की। उस समय यही दूसरी इन्टरनेशनल काम कर रही थी, जिसकी ओर से यह जाँच कराई गई थी।

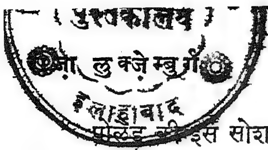
रोज़ा भी उनके प्रवाद से बची नहीं रही। १८९३ में जब इन्टरनेशनल की कॉंग्रेस ज़ूरिच में बैठी, तब पोलैंड के इन महानुभावों ने उसके खिलाफ़ भी आवाज़ें उठाईं! उन लोगों ने एक नामलेवा संस्था बना ली थी और चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे लोग प्रसिद्ध थे, अतः पोलैंड के मज़दूरों के प्रतिनिधि की हैसियत से उसमें शामिल होने में भी वे समर्थ हो सके थे। इधर पोलैंड की जो असली पार्टी—यह "पोलैंड सोशलिस्ट पार्टी" थी, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस संस्था की ओर से रोज़ा और वार्सकी उस कॉंग्रेस में शामिल हुए। इन दोनों के खिलाफ़ तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ाई गईं, इन्हें बदनाम करने की कोशिशें हुईं।

इन प्रवादों के बीच एक नवयुवती एक ऐसी जमात के बीच बोलने को खड़ी होती है, जिसमें यूरोप के सभी नामी गिरामी समाजवादी एकत्र हैं। वह खड़ी हुई और बिना किसी झिझक के अपनी बातें इस प्रसिद्ध मंडली के सामने

रखीं। उसने अपने विरोधियों पर आक्षेप नहीं किये, बल्कि सैद्धान्तिक बातों में ही अपने को आवद्ध रखा। हाथ को हिलाते हुए, उसने उन के सभी तुच्छ और नीच आक्षेपों का इस तरह तिरस्कार किया कि वे कट कर रह गये। इन आक्षेपों के भीतर जो सैद्धान्तिक मतभेद की प्रचंड धारा बह रही थी, उसे ऊपर लाकर अपनी बातों के औचित्य और अकाट्यता उसने सिद्ध कर दी। यूरोप के सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता वेन्डर वेल्ड ने उस घटना के बारे में यों कहा है—

" रोज़ा की उम्र उस समय सिर्फ़ २३ वर्षकी थी। जर्मनी और पोलैंड के एक छोटे से हल्के के बाहर कोई उसे जानता नहीं था। उसके विरोधियों ने उसके ख़िलाफ़ प्रचार करने में कुछ उठा नहीं रखा था। मुझे आज तक याद है–किस तरह प्रतिनिधियों के बीच से वह उठी और जिसमें उसकी आवाज़ सब लोग अच्छी तरह सुन सकें; एक कुर्सी पर खड़ी हो गई। वह छोटे क़द की, दुबली पतली युवती थी। गर्मी की पोशाक वह इस तरह पहने थी कि जिसमें उसके शरीर की न्यूनता छिप जाय। उसने अपनी बातों को इस चुम्बकत्व–भरे ढंग से और ऐसे आकर्षक शब्दों में रखा कि काँग्रेस का बहुमत उसकी ओर हो गया और उसके पक्ष में बहुमत के हाथ आप से आप उठ गये! "

इस काँग्रेस से लौटने के बाद पोलैंड के समाजवादी आन्दोलन में चारों ओर फूट ही फूट दिखाई देने लगी। जोगिचेस और रोज़ा ने देखा कि पुराने समाजवादी नेताओं के साथ उनका काम करना ग़ैर मुमकिन है। वे बातें तो समाजवाद की करते हैं, किन्तु उनके हृदय में अब भी आतंकवादी राष्ट्रीयता का बोलबाला है। मज़दूरों की अन्तर्राष्ट्रीयता उनके हृदय में घर नहीं कर पायी है। पोलैंड एक स्वतंत्र देश हो, भले ही वह पूँजीवादी बना रहे—यह थी उनकी धारणा। उनसे अपने को अलग कर लेना ही उचित समझ, रोज़ा ने अपने सहकर्मियों के साथ पोलैंड की " सोशल–डिमोक्रैटिक पार्टी " की स्थापना की। उस समय जर्मनी और रूस में जो मार्क्सवादी पार्टियां थीं, उनके यही नाम थे। यों, उसने पोलैंड के समाजवादी आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन के साथ ला खड़ा किया। पोलैंड की पुरानी सोशलिस्ट पार्टी धीरे-धीरे सुधारवाद की ओर जाने लगी और अन्त में उसका नेता पिलुस्की तानाशाह की तरह, १९१४ के महायुद्ध के बाद, पोलैंड का एकछत्र शासक बना, जिसके पाप का प्रायश्चित्त आज भी पोलैंड को करना पड़ रहा है।



पोलैंड की इस सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की स्थापना देख और उसका प्रभाव बढ़ता पाकर वे पुराने नेता और भी नाराज़ हुए। जब इन्टरनेशनल की काँग्रेस लन्दन में बैठी, तो अब खुल्लम खुल्ला कहा जाने लगा कि रोज़ा पर वार्सा के पुलिस चीफ़ की ख़ास मेहरबानी है। उनके नेता डाशिंस्की ने काँग्रेस में गरजते हुए कहा—

"हम लोग यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग और उरबाख़ ऐसे बदमाशों के हाथों में पड़कर हमारा आन्दोलन सुलह की ओर झुके। हम इन शैतानियों का हर तरह से डटकर सामना करेंगे। जो हमारे आन्दोलन पर रोशनाई के धब्बे डाल रहे हैं, हम उनका पर्दाफ़ाश करेंगे। हम अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना से ऐसे खुराफ़ातियों को निकाल बाहर करेंगे जो जनसेवा के नाम पर हमारी आजादी की लड़ाई को कमज़ोर करते हैं।"

किन्तु, उनके इस तर्जन-गर्जन का कोई नतीजा नहीं निकला। पोलैंड के बारे में उन्होंने जो प्रस्ताव रखा, वह ठुकराया गया और रोज़ा की सहमति से ही इस बारे में प्रस्ताव पास हुआ। पेरिस में होनेवाली १९०० की काँग्रेस में भी उन्होंने आवाज़ उठाई, किन्तु उनकी आवाज़ में अब ज़ोर बिलकुल नहीं रह गया था। इधर रोज़ा को पोसेन, अपर सेलिसिया और वार्सा के मज़दूरों का समर्थन-पत्र प्राप्त था। और २७ राजबन्दियों ने जेलों से ख़त भेज कर उसे अपना प्रतिनिधि बताया था। सैनिकवाद पर प्रस्ताव करने के लिए काँग्रेस ने जो एक उपसमिति बनाई, रोज़ा उसमें भी ली गई थी—इसीसे उसके स्थान और मर्यादा का पता लगाया जा सकता है।

उसके विपक्षी रोज़ा को "उच्चाभिलाषिणी" "षड्यंत्रकारिणी" और "बकबादी चुड़ैल" आदि बुरे नामों से पुकारते; किन्तु, रोज़ा ने शुरू से ही कभी इन बातों की परवाह नहीं की। उसे अपनी सेवा और योग्यता पर अज़हद विश्वास था। गालियों का जवाब गालियों से देना उसने सीखा ही नहीं। वह हमेशा मानती थी कि यदि दृढ़तापूर्वक, अपने सिद्धान्त पर अचल और अटल रहते हुए आदमी जनसेवा के मार्ग पर बढ़ता चले, तो एक-न-एक दिन सफलता मिलकर ही रहेगी। रोज़ा को भी सफलता मिली। अपने ज़माने में कई सैद्धान्तिक प्रश्नों को लेकर लेनिन, कौट्स्की, बूढ़े लिब्तक्नेख़्त आदि बड़े बड़े समाजवादी आचार्यों से लोहा लेना पड़ा। सबने उसकी योग्यता को क़बूल किया, आज भी अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद में उसका नाम आदर से लिया जाता है और वह संसार की महान आत्माओं में गिनी जाती है।

रोज़ा के नेतृत्व में कुछ दिनों तक तो पोलैंड का मज़दूर-आन्दोलन बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ता रहा; किन्तु, जिस ज़ारशाही के फ़ौलादी चंगुल ने रूस के आन्दोलन को कुचल डाला था, उससे वह अपनी इस शिशु पार्टी को नहीं बचा सकी। उसकी यह पार्टी ग़ैर क़ानूनी संस्था क़रार दी गई। उसके मेम्बरों की लगातार गिरफ्तारियाँ होती रहीं। १८९६ तक उसके बहुत ही कम मेम्बर बच रहे, यहाँ तक कि पार्टी के मुखपत्र (मज़दूरों का पैग़ाम) के निकालने और वितरण करने में भी कठिनाइयां होने लगीं और अन्त में तो उसे बन्द ही कर देना पड़ा। कुछ दिनों के बाद एक नौजवान इस पार्टी में आया, जो पीछे चलकर बहुत ही नामी आदमी बन गया। उसका नाम जरजिंस्की था। जरजिंस्की के चलते १८९९ में फिर एक बार यह पार्टी चमकी। उसने लुथानिया की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी को भी इस पार्टी में शामिल करा दिया। दोनों के मिल जाने से बल बहुत बढ़ गया। जरजिंस्की ने रूस की क्रान्ति में बहुत नाम कमाया और रूस की सोवियत सरकार के ख़ुफ़िया विभाग के सर्वे सर्वा की हैसियत से वह मरा!

जब आन्दोलन धीमा था, रोज़ा ने बहुत ही अध्ययन के बाद "पोलैंड में उद्योगवाद का विकास" नामक ग्रंथ तैयार किया। साथ ही वह स्वीज़रलैंड के मज़दूर-आन्दोलन में भी दिलचस्पी लेती रही। कुछ दिनों के लिए वह फ्रांस भी गई, जहाँ फ्रांस के बड़े-बड़े समाजवादी नेताओं से उसका परिचय हुआ। रूस के कुछ फ़रार क्रान्ति-नेताओं से भी उसकी घनिष्ठता वहाँ बढ़ी।

विस्तृत क्षेत्रमें

पोलैंड की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की संस्थापिका होने और अन्तर्राष्ट्रीय-कॉंग्रेसों में अपने विचारों को इस स्पष्टता से प्रगट करने और बड़े बड़े नेताओं के विरोध करने पर भी अपनी बात मनवा लेने के कारण रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग की ख्याति यूरोप के समाजवादी हल्के में विस्तृत हो चली थी। अब पोलैंड के इस शिशु समाज़वादी आन्दोलन में, जो ज़ारशाही के निष्ठुर प्रहारों के कारण बहुत ही मन्दगति से विकास पा रहा था, अपना पूरा समय देना रोज़ा की विस्तृत कार्य-शक्ति के लिए अलम नहीं था। अब उसे व्यापक क्षेत्र चाहिये था। स्वभावतः ही उसका झुकाव जर्मनी की ओर हुआ, जो उस ज़माने में समाजवादी विचारों और सुसंगठित मज़दूर-संघों का केन्द्र था। राजनीतिक सिद्धान्तों और कार्य-पद्धतियों को लेकर वहाँ बहुत ही चहल-पहल थी। किन्तु, उसके लिए दिक़्क़त

यह थी कि जर्मनी की पुलिस ज़ारशाही के चंगुल से भागे हुए राजनीतिक भगोड़ों के पीछे हमेशा पड़ी रहती थी। वह भला रोज़ा ऐसे-शिकार को अपने हाथ से क्यों निकलने देती ? किन्तु, रोज़ा ने पहली ही गोटी में उन्हें मात दे दी। उसने अपने एक जर्मन दोस्त के लड़के से ज़ाब्तगी के लिए शादी कर ली और यों जर्मन प्रजा बनकर पुलिस को चकमा दे दिया।

जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी में बड़े बड़े दिग्गज विद्वान थे, जिन्होंने अपनी ज़िन्दगी बिस्मार्क की समाजवाद-विरोधी नीति से लड़ने में ही गुज़ारी थी और जो अपने को कार्ल मार्क्स के वंशधर-से समझते थे। कार्ल मार्क्स ने समाजवाद की प्रथम स्थापना के लिए जर्मनी को उपयुक्त स्थान बताया था। फिर भला, इन महानुभावों की ऐतिहासिक महत्ता का क्या कहना ? किन्तु, थोड़े ही दिनों में रोज़ा उनमें इस तरह घुलमिल गई कि मालूम होता, जैसे वह उन लोगों की पुरानी साथिन है ! कहाँ, उनकी वे भूरी दाढ़ियाँ और कहाँ रोज़ा का बचपन-सा चेहरा ! किन्तु, अपनी तीव्र बुद्धि और विलक्षण विश्लेषण शक्ति के कारण उसने उन लोगों पर अपनी छाप डाल दी। कार्ल कौट्स्की उस ज़माने में समाजवाद का 'लाट पादरी' माना जाता था। रोज़ा ने उससे व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाया, जो थोड़े ही दिनों में मित्रता में परिणत हो गया। आगस्त बेबेल, पाल सिंगर, फ्रांज़ मेहरिंग आदि समाजवादी पंडितों के क्षेत्र में उसका प्रवेश हुआ। क्लारा ज़ेटकिन से उसकी ऐसी दोस्ती हुई कि ज़िन्दगी भर वह रोज़ा का समर्थन करती रही और उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील रही। जर्मनी के सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता विल्हम लिब्तक्नेख्त से उसका प्रारंभ से ही विवाद चला, जो ज़िंदगीभर क़ायम रहा। इसी विल्हम लिब्तक्नेख्तका सुपुत्र कार्ल लिब्तक्नेख्त था, जो बाप की तरह प्रसिद्ध समाजवादी नेता हुआ और जिसकी हत्या रोज़ा के साथ ही की गई !

पारवस जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के प्रमुख दैनिक पत्र का नामी संपादक था। उसने रोज़ा के लिए अपने पत्रका कालम सुरक्षित कर दिया। थोड़े दिनों के बाद पार्टी के दूसरे नामी दैनिक पत्र के सम्पादक ब्रूनो स्कोलैंक से रोज़ा की घनिष्टता बढ़ी। ब्रूनो बड़ा ही प्रतिभाशील सम्पादक था। उसने अपने पत्र को पार्टी का सिर्फ़ प्रचार-पत्र ही नहीं रहने दिया था, बल्कि उसे एक ऐसा सांस्कृतिक जामा पहना दिया था कि पार्टी के दुश्मन भी उस पत्र को बड़े चाव से पढ़ने को मजबूर हो जाते। ब्रूनो राजनीति और अर्थशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था, उसकी

पारखी आँखों ने तुरत देख लिया था कि सैद्धान्तिक प्रश्नों में रोज़ा उससे कहीं बढ़ी चढ़ी है, अतः, उसके विचारों से अपने पत्र को सुशोभित करने के लोभ को वह सम्वरण नहीं कर सकता था।

लिखने के साथ ही साथ अब रोज़ा को व्याख्यान देने का भी मौक़ा मिलने लगा। जर्मनी में मज़दूरों की सभायें होतीं, तो पार्टी की ओर से रोज़ा को भेजा जाता। सभाओं के आयोजक जब रेलवे स्टेशन पर पहुँचते और इस दुबली पतली महिला को पाते, तब उनका चेहरा लटक जाता। भला, यह छोटी–सी औरत क्या बोलेगी ? किन्तु, सभाओं में जाते ही रोज़ा का व्यक्तित्व चमक उठता। वह साधारण आन्दोलनकर्ता की तरह नहीं बोलती। वह भावनाओं को उत्तेजित करने पर विश्वास नहीं करती, वह हमेशा ही बुद्धि से अपील करती। हृदय की अपेक्षा उसके व्याख्यान मस्तिष्क पर ज़्यादा असर करते। वह अपने श्रोताओं के विचारों के तंग दायरे को बढ़ाती, उनकी आँखों के सामने एक नये, विस्तृत संसार की तस्वीर रखती, अपनी वक्तृत्व कला की गर्मी से उनमें चेतना की एक नई रोशनी पैदा करती और अन्ततः उन्हें अपने साथ चलने को मजबूर कर देती। हर सभा उसे नई जयमाला देती, उसकी धूम चारों ओर बढ़ती जाती, उसे निमंत्रण पर निमंत्रण मिलते। वह अपनी सफलता पर फूली नहीं समाती और अपनी जीवन संगी लिओ जोगिचेस के पास इनका विस्तृत विवरण भेजती।

यही नहीं, ज्यों ज्यों उसकी प्रसिद्धि बढ़ी, जर्मनी के समाजवादी और मज़दूर हल्के के कुछ बुज़ुर्गों के कान खड़े हुए। रोज़ा का स्वभाव बहुत ही मिलनसार था, किन्तु, उसकी ज़बान तेज़ थी। वह सिर्फ़ नये विचार ही नहीं देती, पुराने विचारों की धज्जियाँ भी उड़ाती। सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के "पिता लोगों" में कानाफूसी होने लगी। उसने एक ख़त बेबेल के नामसे लिख कर इसकी हल्की शिकायत की। उसने लिखा–"उसका यह विचित्र स्वागत क्यों हो रहा है ? क्या इसलिए कि जर्मनी में उसका जन्म नहीं हुआ, वह एक विदेशिनी है ? नहीं, नहीं, एक कारण और भी हो सकता है–वह स्त्री है, एक तुच्छ स्त्री। और स्त्री होकर राजनीति में आने की उसने गुस्ताख़ी की है, जोकि सिर्फ़ मर्दों का ही पेशा है। और सबसे बढ़ कर तो यह कि वह स्त्री होकर 'व्यवहार कुशल राजनीतिज्ञों' की बातों पर सवाल कर बैठती और अपने नये विचारों को उनके सामने रख कर ऐसी दलीलें देती है कि उन 'भूरी दाढ़ियों' से कोई जवाब नहीं बन पाता है।"

किन्तु, योग्यता ऐसी विभूति है, जिसकी उपेक्षा ज़्यादा दिनों तक की ही नहीं जा

सकती। उन्हें यह मंजूर करना पड़ा कि वह आसमान से टूट कर गिरती हुई, क्षण भर की चिनगारियाँ बिखेर कर बुत जानेवाली उल्का मात्र नहीं है; बल्कि एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसने अपने को मज़दूर वर्ग की सेवा में उत्सर्ग कर रखा है और जिसे अपनी ज़िम्मेवारियों का पूरा ज्ञान है। धीरेधीरे बुज़ुर्गों की वे कुधारणायें दूर हुईं और उसका प्रभाव उनके हृदयों पर जम कर रहा। ब्रूनो स्कौलैंक ने यह ठीक कहा था कि—"यद्यपि उसकी उम्र थोड़ी है, तो भी उसका राजनीतिक ज्ञान पुख्ता है, और उसकी नज़र ऐसी तीखी है कि दुश्मन की चालाकियों और चालबाज़ियों को तुरत ही भाँप ले;—यह गुण जो प्रायः लम्बे अर्से के राजनीतिक जीवन के तज़ुर्बे के बाद ही मिलता है।"

१८९८ में वह पारवस के उस सुप्रसिद्ध पत्र की सम्पादिका बनाई गई, जिसमें उसने शुरु-शुरु लिखना आरम्भ किया था। पारवस की विद्वत्ता में कोई शक नहीं, किन्तु, उसका काम बहुत ढीला ढाला होता था। सम्पादन का दायित्व लेने के बाद रोज़ा ने अपनी ज़िम्मेदारियों को कड़ाई से निभाना शुरू किया, नतीजा यह हुआ कि उसके विभाग के लोगों में खलबली मच गई। इसके अलावा उसने पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक के विचारों की टीका-टिप्पणी की। इन बातों को लेकर संचालक-मंडल ने उस पर कुछ बंधन डालना चाहा। स्वाभिमानिनी रोज़ा ने तुरत ही इस्तीफ़ा देकर उन्हें आश्चर्य में डाल दिया। उसके बाद वह बर्लिन आगई और वहाँ रहते ब्रूनो स्कोलैंक के अखबार में हमेशा लिखने लगी। उसके लेखों ने उस पत्र को सिर्फ़ मार्क्सवादी आधार ही नहीं दिया, बल्कि समाजवादी अख़बारों में उसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी दी।

: ३ : सुधार या क्रान्ति ?

मार्क्सवाद में संशोधन !

जिस समय रोज़ा ने व्यापक कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया, यूरोप के समाजवादी हल्के में एक नई विचारधारा को लेकर बड़ी ही हलचल मची हुई थी।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी हिस्से में पूँजीवाद का एक नया विकास हो रहा था—वह साम्राज्यवाद की ओर बेतहासा बढ़ रहा था। हिन्दुस्तान को ग़ुलाम बनाने के बाद ब्रिटेन ने मिश्र पर क़ब्ज़ा जमा लिया था और दक्षिण अफ़्रिक़ा में उसका एक विशाल साम्राज्य बन चुका था। फ्रांस ने उत्तरी अफ़्रिक़ा के टूनिस और सुदूर पूर्व के टौंकिन को हथिया लिया था। इटली अबिसिनिया में अपने पैर जमाने की कोशिश में लगा हुआ था। रूस ने मध्य एशिया की विजय के बाद मंचूरिया की ओर अपना ध्यान बँटाया था। अफ़्रिक़ा में और दक्षिणी सागर में जर्मनी के प्रथम उपनिवेश क़ायम हो चुके थे। इंग्लैंड के चंगुल से छुटकारा पा अमेरिका अब ख़ुद पूर्वी एशिया में पंजे बढ़ा रहा था और फ़िलिपाइन द्वीपसमूह उसके क़ब्ज़े में आ चुका था। जापान भी पड़ोसियों पर दांत गड़ाये हुए था।

“ इस साम्राज्य की लिप्सा के चलते राज्यों के बीच अजीब कशमकश चल रहा था। उत्तरी अफ़्रिक़ा में इटली और फ्रांस के बीच, मिश्र में फ्रांस और ब्रिटेन के बीच, मध्य एशिया में ब्रिटेन और रूस के बीच, पूर्वी एशिया में रूस और जापान के बीच, चीन में जापान और ब्रिटेन के बीच, और प्रशान्त महासागर में जापान और अमेरिका के बीच स्वार्थ-संघर्ष जारी थे। परस्पर द्वेष, क्षणिक संधि, आकस्मिक तनाव और दिखावटी सुलह का दौरदौरा था। कुछ ही वर्षों का अर्सा देकर बार-बार लड़ाई के बादल एकत्र होते, गरजते और मालूम होता, अब फटे, तब फटे! किन्तु, जैसे-तैसे वे टलते जा रहे थे।

इस नई परिस्थिति पर समाजवादिओं का ध्यान जाना आवश्यक था। कौट्स्की, पारवस, विल्हम लिब्तक्नेख्त्, क्लारा ज़ेटकिन आदि ने इस परिस्थिति पर ध्यान देते हुए यह घोषणा की थी कि पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय संकट

के एक नये युग में पदार्पण कर रहा है, जिसके फल स्वरूप एक विश्वयुद्ध होकर ही रहेगा।

लेकिन, कुछ ऐसे समाजवादी भी थे, जो इस आंधी के लक्षणों को देखकर भी नहीं देखना चाहते थे और भविष्य समाज के विकास का एक सुन्दर काल्पनिक चित्र खींच कर ही आत्मसंतोष प्राप्त करना चाहते थे। वे कहते, पूँजीवाद लड़कपन की नादानियों से गुज़र चुका है, अब उसमें यौवन-सुलभ स्थिरता आ गई है। अब वह ख़ूँख्वार जानवर नहीं रह गया, वह तो अच्छा ख़ासा पालतू पशु बन गया है। मार्क्स ने कहा था, हर दस वर्ष पर आर्थिक संकट आयेंगे, किन्तु, बीस वर्षों से एक भी संकट तो नहीं आया। न इधर युरोप में कोई बड़ी लड़ाई ही हुई। मज़दूरों की हालत सुधर रही है और मज़दूर संघों की ताक़त बढ़ रही है। मज़दूर आन्दोलन पर अब जर्मनी तक में मनाही नहीं है और कैसर ने तो मज़दूरों की हितरक्षा की प्रतिज्ञा तक की है। मज़दूरों की सहयोग-समितियाँ "पूँजीवादी-मरुभूमि में समाजवादी नख़लिस्तान" की तरह बड़े वेग से प्रगति पा रही हैं।

इस तरह के विचार पेश करते हुए, इनके समर्थकों का कहना था कि अब क्रान्ति की ज़रूरत नहीं रह गई, सुधारवादी पथ पर चलते—चलते, कुछ दिनों में, आप ही आप समाजवाद की स्थापना हो जायगी।

ऐसे विचारवालों का एक प्रबल गिरोह जर्मनी के समाजवादी क्षेत्र में पैदा हो चुका था। जर्मनी का मज़दूर आन्दोलन १८४८ की अर्द्धक्रान्ति के पचीस वर्षों के बाद प्रारम्भ हुआ था। उस समय जर्मनी में बिस्मार्क का बोलबाला था जिसने मज़दूर—आन्दोलन का पुलिस द्वारा तीव्रता से दमन कराने की नीति अख़्तियार कर रखी थी। बिस्मार्क के शासन की नींव प्रशिया की सामंतशाही पर थी। फलतः, वहाँ के मज़दूर—आन्दोलन का प्रत्यक्ष सामना सामंतशाही से ही था, जो 'जंकर' के नाम से मशहूर थी। नतीजा यह हुआ था कि वहाँ के मज़दूर—आन्दोलन में कुछ ऐसे पूँजीवादी भी घुस आये थे, जो मज़दूरों का उपयोग पूँजीवादी प्रजातंत्र क़ायम करने के लिए करना चाहते थे। इन लोगों के कारण जर्मन मज़दूरों की सुप्रसिद्ध सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी में एक ऐसा दल बन गया था जो स्वभावतः ही सुधारवादी था। किन्तु, इस दल की ज़्यादा चल नहीं पाती थी। १८९१ में जब वौल्मार ने ज़रा सुधारवादी बातचीत शुरू की थी तो ऐसा ही हल्ला मचा कि बेचारे को लेने के देने पड़ गये थे।

इस घटना के चार वर्ष बाद ही फ़्रेडरिख़ ऐंगेल्स का स्वर्गवास हुआ। ऐंगेल्स मार्क्स का आजीवन सहकर्मी और सहयोगी था। मार्क्स की मृत्यु के बाद वही अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का सलाहकार और मार्क्सवाद का संरक्षक समझा जाता था। उसकी मृत्यु से तो मानो अवसरवाद के लिए एक रास्ता ही खुल गया। सबसे करुणाजनक बात यह हुई कि सुधारवाद के पक्ष में ऐंगेल्स के ही "परिपक्व और प्रकाशपूर्ण" कथनों को उद्धृत किया जाने लगा। ऐंगेल्स ने मार्क्स के १८४८ की क्रान्ति पर लिखी गई "फ्रांस में वर्गयुद्ध" नाम की पुस्तिका पर भूमिका लिखी थी। यह भूमिका ऐंगेल्स की आख़िरी रचना थी। इसके लिखने के थोड़े ही दिनों बाद उसकी मृत्यु होगई। ऐंगेल्स समाजवाद का आचार्य होने के साथ ही सैनिक विद्या का भी बहुत गहरा ज्ञान रखता था। इसीलिए उसे प्यार से "सेनापति" भी कहा जाता था। इस भूमिका में 'सेनापति' ने यह बताया कि आज के शहर–निर्माण के नये ढंग और सैनिक विद्या के नवीन प्रयोग के कारण, रक्षात्मक युद्ध के आधार पर बनाये जानेवाले पुराने क्रान्तिकारी युग के 'बैरिकेडों' (लकड़ी आदि रखकर सड़कों को रोक देना और उसकी आड़ से लड़ना) की उपयोगिता ख़त्म हो गई। अब तो भविष्य में जो क्रान्तियां होंगी, उनमें बिल्कुल नई पद्धति का अनुसरण करना होगा। मज़दूरों को राज्यपक्ष की सैनिक-शक्ति पर ज़बरर्दस्त आक्रमणात्मक प्रहार करना होगा। इसके लिए पहले से ही विस्तृत, व्यापक और सुगठित तैयारियां करनी होंगी। मज़दूरों की संस्थायें जब तक बहुत ही मज़बूत नहीं होंगी और उनके पास काफ़ी साधन नहीं होंगे, तब तक सफलता की आशा नहीं की जा सकती। अतः जब तक पूरी प्रारम्भिक तैयारियाँ नहीं हो जायं, "क्रान्ति के साथ खेलवाड़ करना" निरा बचपन और मज़दूरों के लिए घातक होगा। ऐसे प्रयत्न निन्दनीय समझे जायँगे। मज़दूर–आन्दोलन को चाहिये कि काफ़ी दिनों तक वह क़ानूनी तरीक़ों को ही इस्तेमाल में लाकर अपनी ताक़त को बढ़ाता जाय। जर्मनी के मज़दूर–आन्दोलन से इस बारे में सबक़ लेना चाहिये, जिसने वोट देने की ताक़त को मज़दूरों को मुक्ति के अस्त्र के रूप में अच्छा इस्तेमाल कर दिखाया है।

यह पुस्तक जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी छपवाने जा रही थी। उस समय जर्मनी की पार्लियामेंट (राइख़टाग) में मज़दूरों का दमन सम्बन्धी क़ानून पेश था। अतः, पार्टी ने सोचा कि इस भूमिका में भविष्य की सशस्त्र क्रान्ति की चर्चा रहने से सरकार को इस क़ानून के पास कराने में सुविधा होगी। अतः,

उसने ऐंगेल्स से निवेदन किया कि उसका वह भाग हटा दिया जाय। पहले ऐंगेल्स ने अपने विचारों का इस प्रकार अंग भंग किया जाना मंजूर नहीं किया; किन्तु, आख़िर परिस्थिति ने उस पर असर डाला और लाचारी उसने ऐसी आज्ञा दे दी। यों, अंग भंग की गई वह भूमिका निकली और थोड़े ही दिनों के बाद ऐंगेल्स चल बसा। ऐंगेल्स के मरते ही अवसरवादी सुधारपंथियों ने उसकी इस भूमिका को उसके आख़िरी "वसीयतनामे" की तरह मशहूर किया और खुले आम कहने लगे कि ऐंगेल्स ने तो सब तरह की हिंसा की निन्दा की है, क्रान्तिकारी आन्दोलन की व्यर्थता बतादी है और क़ानूनी पद्धतियों को ही मज़दूरों के सारे रोगों के लिए एकमात्र रामबाण औषधि बताया है।

किताबों का अपना इतिहास होता है और वे इतिहास बनाती भी हैं। इस 'वसीयतनामे' को लोग ले उड़े और जर्मनी में एक ऐसा गिरोह खड़ा हुआ जिसने कहना शुरू किया कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की आवृत्ति फिर से होनी चाहिये, क्योंकि परिस्थिति बदल गई है! जिन नेताओं के कारण उस भूमिका का अंग भंग और यह महा अनर्थ हुआ था, वे मौन साधे रहे। कौट्स्की कहा करता था कि ज़रूर ही इस भूमिका में कुछ गड़बड़ी मालूम होती है, किन्तु, वह बता नहीं सकता था कि वह गड़बड़ी क्या है? पारवस ने इस वसीयतनामे को मान लिया। सिर्फ़ रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ही ऐसी थी जिसने कहा कि इस भूमिका के विचार को ऐंगेल्स का यथार्थ विचार कहा नहीं जा सकता! आख़िर १९२४ में सुप्रसिद्ध रूसी समाजवादी रियाज़ेनोव ने ऐंगेल्स के हाथ की लिखी वह पूरी भूमिका किसी तरह प्राप्त कर प्रकाशित कराया, तब सब बातें साफ़ हुईं और पता चला कि रोज़ा का कहना कितना सही था।

ऐंगेल्स के निकटतम व्यक्तियों में एडुआर्ड ब्रन्स्टीन भी था। यही ब्रन्स्टीन इस मार्क्सवाद का संशोधन चाहने वालों का अगुआ बना। वह एक सुप्रसिद्ध पत्र का सम्पादक था, जिसे बिस्मार्क ने ज़ब्त कर लिया था। तब वह पत्र लंदन से निकलने लगा था। ब्रन्स्टीन पूँजीवाद के निम्न स्तर से आया था और शुरू में धर्म और नीति की बड़ी दुहाई देता था। ऐंगेल्स की संगति में आने से वह पक्का समाजवादी बन गया था। किन्तु, उस पर इंग्लैंड की परिस्थिति की ज़बर्दस्त छाप लग चुकी थी। इंग्लैंड के उदार प्रजातंत्र, मज़दूर-संगठन की मातहत चलने वाले ज़बर्दस्त सहयोग आन्दोलन और सुधारपंथी समाजवादियों की विचारधारा ने उस पर बहुत ही असर डाला था। १८४८ की फ्रांसीसी क्रान्ति की विभीषिका ने उसे घबरा दिया

था। वह "समाजवाद की समस्यायें" शीर्षक से १८९६ से, ९८ तक लगातार लेख पर लेख लिखता और मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर प्रहार-पर-प्रहार करता रहा। पहले तो उसके लेखों का महत्व लोगों ने नहीं समझा और विरोध की कोई आवाज़ नहीं उठी। किन्तु, बेलफ़ोर्ट बाक्स ने लिखा--"ब्रन्स्टीनने पूँजीवादी उदारवाद और सुधारवाद के नाम पर समाजवाद के अन्तिम उद्देश्य को ही छोड़ दिया है!" तब लोगों का ध्यान इस ओर गया। किन्तु, आश्चर्य कि विल्हेम लिब्तक्नेख़्त, कार्ल कौट्स्की और ब्रूनों स्कोलैंक ने उसका समर्थन ही किया। ब्रन्स्टीन ने जब यह लिखा कि "मुझे इस की चिन्ता नहीं कि समाजवाद का अन्तिम उद्देश्य क्या है, वह चाहे जो भी हो; मैं तो सिर्फ़ आन्दोलन को महत्व देता हूँ।" तब कहीं पारवस ने गदा उठाई और फिर तो ब्रन्स्टीन का विवाद अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का सबसे प्रमुख विवाद हो गया जिसमें उपर्युक्त समाजवादी नेताओं के अलावा मेहरिंग, ब्रेवेल, क्लारा ज़ेटकिन, प्लेख़नौव (रूस), अन्टोनियो लैब्रियोली (इटली), जुलीन ग्विस्दे और जीन जौरे (फ्रांस), सब शामिल हुए।

रोज़ा की तर्कप्रणाली

इस विवाद में जिन बड़े-बड़े महानुभावों ने भाग लिया था, रोज़ा उम्र में सबसे छोटी थी, किन्तु, थोड़े ही दिनों में वह उनकी पहली क़तार में आ चली। अपने विचारों की गहराई और तर्क की चातुरी के कारण उसने बड़े बड़े दिग्गजों को घुटने टेकने के लिए मज़बूर किया! अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-आन्दोलन के प्रमुख व्यक्तियों में उसकी गणना होने लगी। ऐंगेल्स की मृत्यु के बाद कौट्स्की ही मार्क्स-वाद का प्रमुख व्याख्याकार समझा जाता था, किन्तु रोज़ा ने कौट्स्की को भी धुंधला कर दिया। जो उससे पराजित हुए, वे भी उसकी प्रशंसा करने को मज़बूर हुए। बेचारे स्कीप्पेक ने आर्थिक और सैनिक प्रश्नों के विशेषज्ञ की हैसियत से लम्बी-लम्बी बातें रखीं; किन्तु, रोज़ा के तर्क के निकट उसे भी पराजय स्वीकार करना पड़ा। किन्तु, यह उसकी महानता थी कि उसने जिससे पराजय पाया था, उसीकी तारीफ़ में कहा-"उसकी सुन्द तर्कशक्ति, अजेय विश्वास और उत्तेजना-प्रद विवादशैली निस्संदेह ही प्रशंसनीय है। जिस क्षिप्रता से वह अपने विचारों का विकास करती हुई तार्किक परिणामों पर पहुँच जाती है, वह तो आश्चर्यजनक है।"

सैद्धान्तिक और राजनीतिक विवादों में उसका तरीक़ा अपने ही ढंग का था। वह

न तो पहले कुछ वादा करके फिर उसके लिए प्रमाण ढूँढ़ती थी और न समाजवाद के आचार्यों के नाम पर अपील ही करती थी। यह उसके बौद्धिक चरित के सर्वथा विपरीत था कि वह उद्धरणों के समूह से अपने विचारों का विकास करे। सामाजिक जीवन के वास्तविक तथ्यों में से विकास की प्रवृत्तियों को ढूंढ़कर रखना और मज़दूर-आन्दोलन से प्राप्त हुए अनुभवों को इस विकास–धारा में सम्मिलित कर किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचना ही उसकी चरम अभिलाषा थी। वह सभी समस्याओं पर उसके तार्किक परिणामों तक विचार करती थी और उससे जो नतीजे निकलते, उन्हें स्वीकार करने में ज़रा भी नहीं झिझकती थी। वह समझती थी कि तथ्यों का अपना तर्क होता है, भले ही व्यक्ति उसे समझे या न समझे, पसंद करे या न करे। किसी ख़ास राजनीतिक तर्कप्रणाली के निर्माण या अनुसरण करने की अपेक्षा 'तथ्यों के तर्क' को स्पष्टतया से रखना ही वह अपना मुख्य काम मानती थी।

साथ ही साथ, अधकचरे, व्यक्तिगत अनुभवों पर वैज्ञानिक सिद्धान्तों को वह तरजीह देती थी। मार्क्सवादी अनुसंधान-प्रणाली ही उसका अस्त्र थी। वह मार्क्स की तरह ही यह मानती थी कि इतिहास वह धारा है जिसमें अपने ज़माने की आर्थिक स्थिति से पैदा हुई वर्ग-शक्तियां अपने वर्ग-स्वार्थों के लिए परस्पर संघर्ष करती हैं। वह मार्क्सवाद को कोई ऐसी विचारधारा नहीं मानती थी, जो सब ज़माने के सभी सवालों का बना-बनाया हल हमारे सामने रख दे। बल्कि उसके अनुसार मार्क्सवाद एक ऐसी परीक्षण-प्रणाली है जिससे हम आर्थिक परिवर्तनों की धारा को उसके विकास की हर नई मंजिल पर जांच कर सकें और उनके चलते समाज के हर गिरोह के स्वार्थ, विचार, उद्देश्य और राजनीतिक कार्रवाइयों पर पड़नेवाले प्रभावों को समझ सकें। मार्क्सवाद एक ऐसा हथियार है, जिससे सामाजिक धारा पर बौद्धिक प्रभुता प्राप्त की जा सकती है और जिसके बल पर नई परिस्थिति में उपयुक्त राजनीतिक निर्णय लिया जा सकता है। उसके मत के अनुसार इस सम्पूर्ण धारा पर ही हर परिस्थिति में मज़दूर वर्ग का नैतिक और राजनीतिक दृष्टिबिन्दु निर्भर करता है। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मार्क्सवाद ने यह पूर्णतः सिद्ध कर दिया है कि समाजवाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता है, वह स्थापित होकर ही रहेगा। समाज के प्राकृत नियमों के परिणाम-स्वरूप पूंजीवाद का ध्वंस होना अनिवार्य है, मार्क्स ने यह इस तरह स्पष्ट बतला दिया है कि समाजवाद को एक पूर्ण वैज्ञानिक तथ्य की तरह पेश किया जा सकता है!

कुछ लोगों ने रोज़ा पर यह दोषारोपण किया है कि वह समाजवाद की

अनिवार्यता पर इतना विश्वास करती थी कि उसके लिए किये जाने वाले मानव प्रयत्नों की आवश्यकता की वह उपेक्षा करती थी। वह भाग्य-रेखा की तरह, बाह्य शक्तियों को एक निश्चित दिशा में काम करने वाली मानकर मानव शक्ति या सामाजिक वर्गों की शक्ति को कार्यों के लिए जगह ही नहीं रखती थी। किन्तु, यह बात ग़लत है। उस ज़माने में जो लोग अपने को मार्क्स और ऐंगेल्स के अनुयायी बताते थे, वे "आर्थिक स्थिति" को एक रहस्यमय और आधिदैविक शक्ति की कोटि में ले जाते थे, जो अपने नियम पर ही चला करती है। किन्तु, वे भूल जाते थे कि यह 'आर्थिक स्थिति' आख़िर है क्या चीज़? उत्पादन की धारा में मनुष्य जिन पारस्परिक सम्बन्धों में प्रवेश करता है, उनके परिणाम का नाम ही आर्थिक स्थिति है, और इस तरह यह मानवी प्रयत्नों और संघर्षों की ही बेटी है। मार्क्स ने कहा था—"मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है। किन्तु, यह इतिहास उसकी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार या उसके द्वारा चुनी गई परिस्थिति में तैयार नहीं होता, बल्कि भूतकाल से आयी हुई पूर्व-स्थापित परिस्थिति की छत्रछाया में ही वह बनाया जाता है।" वे लोग इसका अर्थ शब्दों को पकड़-पकड़ कर करते थे। रोज़ा ने मार्क्स के इस कथन को इस रूप में रखा—

" मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से इतिहास नहीं बनाता, किन्तु, वह अपना इतिहास ज़रूर बनाता है। उस ज़माने के सामाजिक विकास की परिपक्वता किस दर्जे की है, इस पर मज़दूरवर्ग का कार्य अवश्य निर्भर करता है, किन्तु यह सामाजिक विकास भी मज़दूरों से बिल्कुल अलग और स्वतंत्र चीज़ नहीं है। मज़दूर भी उसके कारण और प्रवर्त्तक होते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह वे स्वयं उसके पैदावार और नतीजे हैं। मज़दूरवर्ग का प्रयत्न इतिहास के निर्माण का एक मुख्य प्रेरक उपादान है। जिस तरह आदमी उछल कर अपनी छाया को नहीं पार कर सकता, उसी तरह वह सामाजिक विकास की मंज़िलों को भी उछल कर नहीं लांघ सकता है। लेकिन इस विकास को वह रोक सकता है या तेज़ कर सकता है। समाजवादी मज़दूरवर्ग की विजय इस्पाती ऐतिहासिक नियमों पर निर्भर करती है, और इसके पहले उसे धीरे धीरे, बड़े परिश्रम से, हज़ारों क़दम आगे बढ़ाने पड़ेंगे। किन्तु, हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिये कि ऐतिहासिक धारा द्वारा धीरे धीरे प्रस्तुत की गई भौतिक परिस्थिति के बारूद में यदि जनता के बहुत बड़े समूह की चेतन इच्छा शक्ति की चिनगारी नहीं लगाई गई, तो यह विजय कभी भी सम्भव नहीं हो सकेगी!"

यहाँ मार्क्स और रोज़ा के विचारों में जो थोड़ा अन्तर है, उसके कारण को समझ लेना चाहिये। मार्क्स को मज़दूरवर्ग में साहस भरना था, यह तभी सम्भव था कि जब उन्हें बता दिया जाय कि जिस उद्देश्य में उन्हें आगे बढ़ना है, उसमें उनकी विजय होकर ही रहेगी। किन्तु, रोज़ा के ज़माने में मज़दूर आन्दोलन ज़्यादा आगे बढ़ चुका था, अतः, अब उनके सामने विजय की अनिवार्यता पर ज़ोर नहीं देकर, उनके प्रयत्नों पर ज़ोर देना था, जिसमें वे तत्परता से क्रान्ति के कार्य में संलग्न हों। अतः, फ़र्क़ बात में नहीं, किन्तु, किस बात पर ज़ोर दिया जाय, इसमें है। वह कहा करती थी "शुरू में काम ही था! और यह काम ऐतिहासिक धारा की पूरी जानकारी हासिल करके करते जाना चाहिये।" मार्क्स के बारे में उसकी, निम्न पंक्तियाँ खुद उस पर भी लागू हैं—

"मार्क्स जिस तरह इतिहास का तीक्ष्ण व्याख्याकार था, उसी तरह वह साहसी क्रान्तिकारी भी था—विचारों का आदमी और कार्यों का आदमी भी। मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में मार्क्सवाद ने ही पहले पहल सैद्धान्तिक ज्ञान का गठबंधन क्रान्तिकारी कार्य से किया—एक दूसरे के पोषक और प्रेरक के रूप में! मार्क्सवाद के ये दोनों ही आधार हैं, अगर इनमें से एक को दूसरे से अलग कर दिया जाय, तो फिर मार्क्सवाद एक खेलवाड़ और उपहास की चीज़ हो जाय!"

मार्क्सवाद के नाम पर जो लोग सामाजिक जीवन की सभी विभिन्नताओं और रंगीनियों को आर्थिक आंकड़ों की लम्बी लग्गी से नापने की कोशिश करते और उसके आधार पर ही भविष्यमें सामाजिक विकास के परिणाम निकालते, उनसे उसकी नहीं पटती थी। वह समझती थी कि पूंजीवाद के विकास की प्रगति पर आर्थिक तथ्यों के अलावा राजनीतिक और ऐतिहासिक तथ्यों का इतना गहरा असर होता है कि जो लोग सिर्फ़ आर्थिक तथ्यों के आधार पर ही पूंजीवादी समाज की जीवन-अवधि कूतेंगे, वे निस्सन्देह ही झूठे पैग़म्बर साबित होंगे। वह एक दिव्यदर्शी की तरह समूची ऐतिहासिक विकास-धारा को एक ही नज़र में देखने की शक्ति रखती थी, जिस धारा में औज़ार, उत्पादन और वितरण का संगठन, ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ, वैज्ञानिक विकास, क़ानूनी धारणायें आदि अनेक बातें वर्ग-युद्ध में बाधक या साधक बनती रहती हैं, लेकिन, इसमें शक नहीं कि अन्ततः समाज संगठन में आर्थिक तथ्यों का ही सबसे ऊपर बोलबाला रहता है।

रोज़ा समाज के किसी भी पहलू को सिर्फ़ ऊपरी दृष्टि से नहीं देखती थी।

उसकी बुद्धि पैनी और आलोचना की गहरी प्रवृत्ति लिये हुई थी। वह हमेशा हीं सतह के नीचे देखती और सत्य की तलाश गहराई में करती। सामाजिक विकास की तह में वह प्रेरक शक्तियों को ढूंढ़ती और इस पद्धति के चलते कभी कभी ऐसे निर्णयों पर पहुँचती कि उसके सहकर्मियों को आश्चर्य होता, वे उसे स्वीकार करने में हिचकते, उसका खंडन भी करते। किन्तु, इतिहास ने रोज़ा के वैसे निर्णयों की सत्यता पीछे चल कर सिद्ध की !

सुधार या क्रान्ति

इतिहास की विकासधारा को इस पद्धति से देखते हुए उसने ब्रन्स्टीन के सुधारवाद का खंडन आरम्भ किया। उसने १८९८ और १८९९ में दो लेख–मालायें लिखीं, जो पीछे "सुधार या क्रान्ति" के नाम से प्रकाशित हुईं। ब्रन्स्टीन ने अपनी पुस्तक में समाजवादियों को चुनौती दी थी—"वे पुरानी शब्दावली के फेर में मत पड़ें, उन सड़े गले विचारों को छोड़ें और साफ़ शब्दों में घोषित करें कि वे अब सुधार की राह पर चलने वाले हैं और उनकी पार्टी सुधारवादी पार्टी है।" ब्रन्स्टीन के समर्थक कहते थे—जब अनियंत्रित शासन पद्धति थी, राजाओं का बोल-बाला था, तब क्रान्ति के लिए एक औचित्य भी था, वह कुछ अंशों में आवश्यक भी थी; किन्तु, अब, जब कि प्रजातंत्र का दौरदौरा है, क्रान्ति का शोर मचाना तो पागलों का प्रलाप मात्र है। अब तो हमें धारासभाओं के द्वारा धीरे धीरे मज़दूरों के हक़ों को प्राप्त करना चाहिये और इस निश्चयात्मक ढंग से ही हम कालक्रम से समाजवाद के आदर्श की स्थापना कर लेंगे। रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने ऐसे लोगों को धता बताते हुए कहा—

"सुधार और क्रान्ति सामाजिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिए दो भिन्न भिन्न तरीक़े नहीं हैं। ये दोनों इतिहास की अलमारी में सजाकर रखी गई ठंढी और गरम तश्तरियाँ नहीं हैं, जिनमें से हम इच्छानुसार किसी एक को चुन लें। ये दोनों वर्ग-समाज के विकास के भिन्न भिन्न पहलू हैं, जो एक दूसरे पर असर डालते और एक दूसरे की कमी पूरी करते हैं। लेकिन साथ ही साथ ये दोनों परस्पर विरोधी दिशा के भी परिचायक हैं, जैसे दक्षिणी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव, या पूँजीपति और मज़दूर !

" वर्तमान सामाजिक विधान क्रान्ति की ही पैदावार हैं। वर्ग-समाज में नई सृष्टि के लिए की जानेवाली राजनीतिक कार्रवाई का ही दूसरा नाम क्रान्ति है। और सुधार उसके बाद धीरे धीरे की जानेवाली क़ानूनी कार्रवाई की ओर इशारा करता है। क्रान्ति से अलग सुधार की अपनी कोई प्रेरणाशक्ति नहीं होती। इतिहास की हर मंज़िल में क्रान्ति के बाद उसीकी बनाई राह पर हम सुधार को बढ़ते देखते हैं; और उसकी रफ़्तार तभी तक है जब तक क्रान्ति से पैदा हुई प्रेरणा क़ायम है। हम इसी को इस तरह भी कह सकते हैं कि पिछली क्रान्ति द्वारा बनाये गये सामाजिक ढांचे के अन्दर ही सुधार अपना विकास कर सकता है।

" जो लोग यह कहते हैं कि क्रान्ति को ही लम्बे अर्से के दायरे में फैला दें, तो वह सुधार है या सुधार के लम्बे अर्से को अगर समेट कर एकत्र कर दें, तो वह क्रान्ति है, वे निराधार असत्य ही नहीं बोलते, बल्कि वे इतिहास के विरुद्ध बात बोलते है। सामाजिक क्रान्ति और क़ानूनी सुधार समय के लिहाज़ से ही बिल्कुल भिन्न नहीं हैं, बल्कि वे आमूलतः अलग अलग चीज़ें हैं। राजनीतिक शक्ति द्वारा लाई गयी ऐतिहासिक क्रान्तियों का सम्पूर्ण रहस्य इस बात में है कि वे परिमाण को गुण में बदल जाने की सूचना देती हैं, या यों कहिये कि वे इतिहास की मंज़िल को आगे की मंज़िल में या समाज के एक विधान को दूसरे विधान में परिवर्तित होने की सूचना देती हैं।

" इस लिए जो लोग राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने की राह को छोड़ कर क़ानूनी सुधार की राह पकड़ते हैं, वे सिर्फ़ उस उद्देश्य तक पहुंचने के लिए एक शान्तिमय और धीमी जाने वाली राह ही नहीं पकड़ते हैं, बल्कि वे उस उद्देश्य के बदले दूसरा उद्देश्य ही क़बूल कर लेते हैं।"

" प्रजातंत्र आवश्यक है, किन्तु, इस लिए नहीं कि इसकी प्राप्ति के बाद मज़दूरवर्ग द्वारा राजसत्ता पर विजय प्राप्त करना फ़िज़ूल हो जाता है, बल्कि ठीक इसके विपरीत प्रजातंत्र तो राजसत्ता पर क़ब्ज़ा करना और भी आवश्यक और अनिवार्य बना देता है। जब एँगेल्स ने मार्क्स की " फ्रांस में वर्ग संघर्ष " नामक पुस्तक की भूमिका में मज़दूर-आन्दोलन की कार्य-पद्धति में परिवर्त्तन करना आवश्यक बताया, और सड़कों पर 'बैरिकेड' बनाकर लड़ने के बदले क़ानूनी कार्रवाइयों की ओर इशारा किया, उस समय उसके दिमाग़ में मज़दूरों द्वारा राजसत्ता पर अन्तिम अधिकार करने की बात नहीं थी, बल्कि दिन दिन का वर्ग संघर्ष

ही उसके ध्यान में था। उस भूमिका के एक–एक शब्द इस बात के साक्षी हैं। ऐंगेल्स उस समय की बात नहीं कह रहा था जब मज़दूरवर्ग हर्बे–हथियार से लैस होकर पूँजीवादी राज्य का सामना करने जायगा, बल्कि जब वह उसकी हदबंदी में रहते हुए अपनी दैनिक मांगों के लिए संघर्ष करेगा। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि ऐंगेल्स ने जो कुछ उस भूमिका में लिखा है वह पीड़ित मज़दूरवर्ग के लिए लिखा है, विजयी मज़दूर वर्ग के लिए नहीं।

"मार्क्स या ऐंगेल्स के दिमाग़ में मज़दूरवर्ग द्वारा राजसत्ता पर अधिकार किये जाने के बारे में कभी भी, किंचित सन्देह नहीं था। यह तो ब्रन्स्टीन के ही सौभाग्य में बदा था कि संसार की सबसे बड़ी क्रान्ति के लिए—मानव समाज को पूंजीवादी रूप के स्थान पर समाजवादी रूप देने के लिए—वह पूंजीवादी वैधानिकतावाद को अस्त्र के रूप में पेश करे !"

रोज़ा के ये शब्द बिजली की तरह प्रकाशमान और पथप्रदर्शन करने वाले हैं। मज़दूरों की ज़िन्दगी को उन्नत करने, मज़दूरी बढ़ाने, काम के घंटे कम करने, मज़दूरों को संगठन के अधिकार दिलाने, अधिक छोटे-मोटे कामों के लिए सुधारवाद का आश्रय लेना आवश्यक होता है, इसमें तो कोई शक ही नहीं। शुरू में ऐसे ही सुधारवादी कार्यों द्वारा मज़दूरों को क्रान्तिकारी कार्य के लिए तैयार किया जा सकता है। उन्हें शिक्षित और संगठित किया जा सकता है, और वास्तविक अनुभवों के द्वारा उन्हें बताया जा सकता है कि वे पूँजीवाद की ग़ुलामी से तब तक नहीं मुक्ति पा सकते जब तक कि वे पूँजीवादी राज्य को बिलकुल उलट नहीं देते। किन्तु, वह यह सोच भी नहीं सकती थी कि इन सुधारवादी कार्यों से ही एक दिन समाजवाद की स्थापना हो जायगी। उस समय रूस में लेनिन उन लोगों से बहस में भिड़ा था जो लोग "अर्थवाद"के चक्कर में पड़कर समझते थे कि मज़दूरों के लिए किसी राजनीतिक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं, वे अपनी रोटी की लड़ाइयाँ लड़ते–लड़ते आप–ही–आप अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ेंगे और उसे प्राप्त करेंगे। रोज़ा लेनिन की बातों का समर्थन करती और ऐसे बेहूदे तर्कों को घृणा की नज़र से देखती। इंग्लैंड के सुधारपंथी मज़दूर-आन्दोलन के विरोध में भी उसने आवाज़ उठाई थी और बताया था कि वहाँ के मज़दूर-नेता मज़दूरों को समाजवाद की ओर न ले जाकर आदर्श–भ्रष्टता की ओर ढकेल रहे हैं। दैनिक ज़िन्दगी को अच्छा बनाने के लिए मज़दूर-संघों द्वारा सामाजिक सेवायें करने और सामाजिक सुधार या नागरिक स्वतंत्रता के हक़ों के लिए

पार्लियामेंट्री कामों के करने की सार्थकता इस बात में है कि उनके द्वारा मज़दूरों के अन्तिम उद्देश्य—समाजवाद की स्थापना—की ओर मज़दूर वर्ग का क़दम बढ़े।

प्रजातंत्र और वैधानिकता

ब्रन्स्टीन और उसके सुधारवादी समर्थकोंका प्रजातंत्र और वैधानिकता पर अटूट विश्वास था। वे प्रजातंत्र को आधिदैविक शक्तियों से सम्पन्न समझते। उनके विचार से वोट देने का काग़ज़ इतनी ताक़त रखता था कि उसके आगे अनियंत्रित शासकों की किरचें आप से आप सर झुकादेंगी और पूंजीवाद का गढ़ आपसे आप ढह पड़ेगा। बस, धारासभाओं में बहुमत होने की देर है, फिर तो मज़दूरों के भाग्य का फ़ैसला हुआ—हुआ है। धारासभाओं में बहुमत हुआ नहीं कि पूँजीपति मज़दूरों के हाथ में शासन सौंप कर स्वयं सन्यास ले लेंग। यों बिना ख़ून ख़राबी के ही मज़दूरों का राज्य क़ायम हो जायगा।

रोज़ा ने इस भ्रामक विचार का ज़ोरदार शब्दों में खंडन किया। वह प्रजातंत्र को सामाजिक विकास की महान धारा की एक मंजिल मात्र मानती थी। मानव समाज के राजनीतिक विकास में प्रजातंत्र की मंज़िल एक छोटी सी चीज़ है। फिर यह समझना कि पूँजीवाद और प्रजातंत्र में कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, बिल्कुल ग़लत है। पूँजीवाद ने अपने विकास के लिए प्रजातंत्र का नारा ज़रूर लगाया और उससे फ़ायदा भी उठाया, किन्तु, पूँजीवाद हर हालत में प्रजातंत्र का ही दामन पकड़े रहेगा, यह कोई निश्चित नहीं। वह एकसत्तात्मक राजतंत्र से लेकर पूर्ण प्रजातंत्र तक को अपना सकता है, बशर्ते कि उनके अन्दर अपना विकास देखे!

यों ही धारासभाओं के इस्तेमाल में वैधानिकता के ज़ीने से आगे बढ़ने में —जहाँ उसके समर्थक अच्छाई—ही—अच्छाई देखते थे, वहाँ रोज़ा की तीक्ष्ण आँखे उस ज़माने में भी यह स्पष्ट देख सकीं थीं कि मज़दूर वर्ग के वर्ग संघर्ष की तीव्रता पूंजीपतियों की संसारव्यापी राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के कारण वैधानिक कार्य और धारासभाओं का प्रयोग दिन—दिन अपना महत्व खोते जायँगे—

"पूंजीवादियों की विश्वव्यापी राजनीति ने पूंजीवादी देशों के सामाजिक और धार्मिक जीवन को ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, संघर्षों और उथलपुथलों की धारामें डाल दिया है, जिसकी न कल्पना की जा सकती थी और न जिसपर क़ब्ज़ा ही

रखा जा सकता है। इस खर-तर धारा में धारासभायें तुच्छ तिनके की तरह इधर से उधर मारी मारी फिरा करेंगी, आज भी कर रही हैं।

"वैधानिक रास्ते से हम न प्रजातंत्र का ही विकास कर सकते हैं और न मानव उन्नति को ही आगे बढ़ा सकते हैं। इसके द्वारा किसी भी महान कार्य के साधन की चेष्टा फ़िज़ूल सिद्ध होकर रहेगी। धारासभाओं द्वारा शासन करने की प्रणाली पूँजीवादियों ने अपने हित के लिए और सामंतशाही को हटाने के लिए अपनाई। जब तक सामंतशाही से पूँजीवाद का झगड़ा रहेगा, तभी तक इसकी उपयोगिता है। ज्योंही सामंतशाही पर पूँजीवाद की विजय हुई, इसका महत्व पूँजीपतियों की दृष्टि से जाता रहेगा। अब तो पूँजीवादी देशों में सामंतशाही से समझौता करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इंग्लैंड, फ्रान्स और जर्मनी में उसके लक्षण साफ़ दिखाई दे रहे हैं।"

किन्तु, उपर्युक्त कथन से यह नहीं समझा जाय कि रोज़ा ने धारासभाओं के बहिष्कार का उपदेश मज़दूरों को दिया है। नहीं, वह तो इनके चुनावों का उपयोग समाजवादी विचारों का प्रचार करने और समाजवादी विचार कहाँ तक जनता में घर कर चुका है, यह जानने के लिए आवश्यक समझती थी। यही नहीं, धारा सभाओं में जाकर जनता की मांगों को पेश करना, उनके लिए यथा सम्भव अच्छे क़ानून बनवाना और उनका उपयोग प्रचारकार्य के लिए करना वह मज़दूरों की भलाई के लिए उपयोगी मानती थी। किन्तु, वह समझती थी कि ज्यों ज्यों धारासभाओं में मज़दूरों का बल बढ़ेगा, पूँजीपतियों का विरोध भी बढ़ता जायगा और यों मज़दूरों की ज्यादा भलाई नहीं हो सकेगी। मज़दूरों को हमेशा ही ध्यान में यह रखना है कि उनकी भलाई धारासभाओं के वैधानिक कार्यों द्वारा नहीं होने वाली है। उनका असली काम तो धारासभाओं के बाहर क्रान्ति के लिए संगठन करना है, इस बात पर वह हमेशा ज़ोर देती थी।

जिस समय यह विवाद चल रहा था, उसी समय १८९९ में एलेक्ज़ेन्दर मिलेराँ ने फ्रांसीसी मंत्रिमंडल में स्थान ग्रहण किया। इस पर जौरे ने फ्रांसीसी समाजवादियों को बधाई दी कि आख़िर वे अपना एक प्रतिनिधि पूँजीवादियों के दुर्ग में घुसा सके! यही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस बात को क़बूल किया कि अब पूँजीवादी विकास का एक ऐसा संक्रात्मक-युग आ पहुँचा है, जब मज़दूर वर्ग पूँजीवादियों के साथ मिलकर राज्यका संचालन करेगा। यह समाजवादियों

की विजय का प्रारम्भ है, जिस पर सबको खुश होना चाहिये। किन्तु, रोज़ा का विचार ठीक इसके विपरीत था। उसने इस प्रश्न पर खूब अध्ययन और मनन किया और इस सम्बन्ध में लेख पर लेख लिख कर अपने विचार स्पष्ट किये।

उसने कहा कि समाजवादी वैसे ही स्थानों पर जासकता है, जहां से वह वर्गसंघर्ष के कार्य को आगे बढ़ा सके। धारासभाओं में विरोधी दल का स्थान लेकर ही वह ऐसा कर सकता है। जब वह पूँजीवादी मंत्रिमंडलों में शामिल होगा, उसे पूँजीवादी सरकार की मशीन के एक टुकड़े की तरह पूँजीवादी व्यवस्था को क़ायम रखने के लिए काम करना पड़ेगा। उस मंत्रिमंडल में रहकर एक ओर मज़दूरों की दशा सुधारने की कोशिश करना और दूसरी ओर उस पूँजीवादी सरकार के अस्तित्व को क़ायम रखने में मददगार होना–यह तो समाजवाद को साधारण पूँजीवादी प्रजातंत्र की नीची सतह पर उतार कर खड़ा करना है। उसने बड़े ही गम्भीर शब्दों में घोषणा की—

"मज़दूरवर्ग के प्रतिनिधि पूँजीवादी सरकार में, अपने वर्ग कार्य को बिना छोड़े, एक ही शर्त पर शामिल हो सकते हैं कि वे उस सरकार में घुस कर, उसके शासन–सूत्र पर क़ब्ज़ा करें और उसका इस्तेमाल विजयी मज़दूरवर्ग के हथियार के रूप में करें।

"पूँजीवादी समाज में समाजवादी का एक ही रूप हो सकता है, वह है विरोधी का। पूँजीवादी सरकार के चिताभस्म पर ही वह सरकारी पक्ष के रूप में खड़ा हो सकता है।"

मिलेराँ की शुरू में तो बड़ी तारीफ़ हुई, किन्तु, थोड़े ही दिनों में यह प्रगट हो गया कि उसका यह प्रयोग समाजवाद की सिद्धि के लिए कितना ख़तरनाक था। एक बार मंत्रिमंडल में घुसने के प्रायश्चित्त के रूप में फ्रांस की समाजवादी पार्टी को बार–बार पूँजीपतियों की धौंस बर्दाश्त करनी पड़ी। मिलेराँ धीरे–धीरे पतन के गहरे गर्त में गिरता गया। पूँजीवादियों के सभी पापों में उसे शरीक होना पड़ा। चीन में और टर्की में वहाँ के लोगों का दमन करने के लिए उसके ज़माने में फ्रांसीसी फ़ौज भेजी गई। सबसे बड़ी दुर्गत तो उसकी तब हुई, जब रूस का ज़ार फ्रांस आया और उसे झुक कर उसकी सलामी बजानी पड़ी!

रोज़ा ने उस समय जो कुछ कहा, पीछे के इतिहास ने भी उसकी सत्यता सिद्ध की। जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी इसी प्रयोग के कारण नष्ट हुई,

इंग्लैंड की लेबर पार्टी और उसका नेता रामज़े मैक्डॉनल्ड इसी ग़लती के कारण बर्बाद हुए और फ्रांस के 'फ्रँट पापुलर'–सरकार की जो दुर्दशा हुई, वह तो अभी कल की घटना है।

पूँजीवाद पालतू ?

ब्रन्स्टीन ने सम्पूर्ण मार्क्सवाद पर ही आक्रमण किया था। मार्क्स का कहना था कि पूँजीवाद खुद इतनी असंगतियों की सृष्टि कर रहा है कि उसका अंत स्वतः अवश्यम्भावी है। ब्रन्स्टीन का कहना था, कि अनुभव बताता है, यह बात ग़लत है। पूँजीवाद में परिस्थितियों के अनुसार बदलने की भी प्रवृत्ति है, जो उसे विनाश से रोकेगा। मार्क्स ने जिन आर्थिक संकटों (Economic crisises) पर इतना ज़ोर दिया था, उनके मौक़े अब बहुत कम आते हैं और वह उन्नति की ओर ही बढ़ता जाता है। कई कम्पनियों को मिलाकर बड़े बड़े ट्रस्ट बनाकर और उधार पर माल देने की प्रथा चला कर पूँजीवाद ने परस्पर प्रतियोगिता करने और माल की खपत नहीं होने की बात पर विजय प्राप्त कर ली है। यही नहीं, अब छोटे–छोटे शेयरवाली कम्पनियों का रिवाज चल जाने से पूँजी में भी जनतंत्रात्मक भावनायें प्रवेश पा रही हैं, खासकर इंग्लैंड ने इस ओर पथ–प्रदर्शन किया है!

ब्रन्स्टीन का एक मशहूर चेला था कोनार्ड स्श्मीड्ट—वह तो गुरु से भी एक क़दम आगे बढ़ गया। उसने कहा कि अब मज़दूरों में संगठन आ जाने और तरह–तरह के आर्थिक सुधारों के क़ानून बन जाने से पूँजीपतियों की स्थिति दिन दिन सिर्फ़ प्रबंधकों की होती जाती है। होते होते ऐसा दिन भी आवेगा कि यह प्रबंधक वाली स्थिति भी उनकी नहीं रह जायगी और उनके हाथों से प्रबंधकार भी बिल्कुल ले लिया जा सकेगा।

रोज़ा ऐसे तर्कों को स्वीकार कर नहीं सकती थी। पूँजीवादी प्रथा में जो असंगतियाँ हैं, वे दिन दिन तीव्र नहीं होती जा रही हैं, बल्कि उनमें सामंजस्य पैदा हो रहा है, यह मान लेने का मतलब था समाजवाद की स्थापना की अनिवार्यता में ही सन्देह करना। सिर्फ़ यही नहीं, बल्कि तब तो समाजवाद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं रहकर नैतिक विचारधारा मात्र रह जायगा और ऐसी हालत में क्यों मज़दूर उसके लिए जाँफ़िशानी उठायेगा, संघर्ष करेगा, बलिदान देगा? तब

फिर समाजवाद वहीं पहुँच जायगा, जहाँ वह मार्क्स के पहले था—यानी कुछ उदार और धर्मभीरु व्यक्तियों की हार्दिक मनोकामना के रूप में।

रोज़ा ने बताया कि ब्रन्स्टीन ने अपने को पूँजीवादी अर्थशास्त्री की गंदी सतह पर उतार दिया है, उसकी नज़र एक पूँजीवादी की नज़र से अच्छी नहीं रह गई है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हालतों में यह उधार देने की प्रणाली (credit system) पूँजीवाद को आसन्न कठिनाइयों से बचा लेगी, किन्तु, इसका आम असर पूँजीवाद पर दूसरा ही होगा। पूँजीवाद के आर्थिक संकटों का आधार यह है कि उसके अन्दर जहाँ हमेशा पैदावार को बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति होती है, वहाँ बाज़ार में खपत की ताक़त दिन दिन कम होती जाती है। उधार की प्रणाली के कारण पैदावार को और भी बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति बढ़ेगी, यहाँ तक कि वह बाज़ार की खपत की ताक़त की सीमा को भी लाँघ जायगी। फिर, ज्योंही आर्थिक संकट आयगा, पूँजीपति भयभीत होकर उधार की प्रणाली को रोक देंगे और यों जिस समय उसकी सबसे अधिक ज़रूरत हो सकती थी, उस वक़्त उसको लकवा मार देगा। नतीजा यह होगा कि आर्थिक संकट और भी तीव्र और व्यापक हो उठेगा। यों, यह उधार की प्रणाली पूँजीवाद की रक्षा का साधन न होकर, उसके शीघ्र विनाश का कारण बन जायगी।

कई कम्पनियों को मिलाकर बड़े-बड़े ट्रस्टों के बारे में रोज़ा ने यह माना कि मार्क्स के ज़माने में पूँजीवाद का यह रूप नहीं आया था और इस पर पूर्ण विचार किया जाना चाहिये। किन्तु, यह तो बिल्कुल साफ़ है कि यह पूँजीवादी अराजकता को एक अंश तक ही कम कर सकेगी। हो सकता है, किसी ख़ास उद्योग में इसके चलते पारस्परिक प्रतियोगता कम हो जाय, या अपने देश के बाज़ार की होड़ को यह कम कर दे, किन्तु, सम्पूर्ण उद्योगों और सारे संसार की नज़र के सामने रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसकी शक्ति भी परिमित ही रहेगी और इससे पूँजीवाद की असंगतियों के सिद्धान्त में मूलतः कोई फ़र्क़ नहीं आ सकता। इन ट्रस्टों के कारण पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के अन्तर्राष्ट्रीय रूप और पूँजीवादी राज्य के राष्ट्रीय रूप के बीच की असंगति और भी तीव्र हो जायगी जिसका फल होगा, दूसरे देश के माल के ख़िलाफ़ टैरिफ़ की दीवाल खड़ी करना और यों एक देश का दूसरे देश से शत्रुता बढ़ना और अन्ततः उनमें गुत्थमगुत्था होना।

१८७३ से १९०० तक कोई जबर्दस्त आर्थिक संकट नहीं आने के कारणों पर विचार कर रोज़ा ने इस सम्बन्ध में भी ब्रन्स्टीन का मुँह बंद कर दिया।

आर्थिक संकट इसके दरम्यान क्यों नहीं आये ? क्या इसलिए कि पूँजीवाद की असंगतियाँ नष्ट हो गई ? बिल्कुल ही नहीं। असंगतियाँ तो उसके मूल में हैं, किन्तु, इधर एक नई बात आगई, जिसने उन असंगतियों के विस्फोट में देर लगा दी है। इधर पूँजीवाद को नये-नये बाज़ार मिलते गये हैं। एशिया, अफ्रीका, अमेरिका का वह विस्तृत बाज़ार-जो पूँजीवादी मशीन-राक्षसी की सभी पैदावारों को पचा ले। किन्तु, रोज़ा ने सवाल किया, यह कब तक ? बकरे की माँ कबतक खैर मनायेगी ? वह दिन दूर नहीं, जब यह बाज़ार भी भर जायगा, उस दिन पैदावार और खपत के बीच का सामंजस्य नष्ट हो जायगा, और एक नहीं, अनेक आर्थिक संकट आकर सिर्फ़ एक देश को नहीं, बल्कि संसार को झकझोर देंगे और ऐसा भूकम्प पैदा करेंगे जिसमें पूँजीवादी प्रणाली की इमारत ताश के घर की तरह आपसे आप ढह पड़ेगी।

रोज़ा की भविष्यवाणी व्यर्थ नहीं सिद्ध हुई। १९०० में ही यूरोप के इन देशों में भी एक बहुत बड़ा आर्थिक संकट आया, जहाँ 'ट्रस्टों' की भरमार थी और जहाँ उधार की प्रणाली का बोलबाला था। ब्रन्स्टीन की बातों का यों घटना ने भी पर्दाफ़ाश कर दिया।

इन सुधारवादियों की एक ज़बर्दस्त दलील यह थी कि मज़दूर संस्थाओं के मज़बूत होने से पूँजीवादी शोषण धीरे धीरे आपसे आप कम होता जायगा। इसके प्रमाण में वे जर्मनी के मज़दूर आन्दोलन को पेश करते थे, जहाँ बिस्मार्क के बनाये मज़दूर-विरोधी क़ानून रद्द हो चुके थे और मज़दूरों के पक्ष में कई अच्छे क़ानून बन चुके थे। ब्रन्स्टीन ने अपनी पुस्तक में बड़े फ़ख्र से लिखा था-"इस समय मुनाफ़े की दर और मज़दूरी की दर में एक संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप मुनाफ़े की दर क्रमशः कम होती जायगी और अन्त में मुनाफ़े के लिए कोई जगह ही नहीं रह जायगी और यों मार्क्स ने जिस अतिरिक्त मूल्य—Surplus Value—पर इतना ज़ोर दिया है, वह आप से आप विलीन हो जायगा और विलीन हो जायगा उसके साथ ही पूँजीवादी शोषण।"

रोज़ा इन मज़दूर-संस्थाओं की उपयोगिता और उनके द्वारा पूँजीपतियों से प्राप्त की गई सुविधाओं को नज़र अन्दाज़ नहीं करती थी। किन्तु, उसने बताया कि ज्यों ज्यों सामाजिक विकास की धारा में प्रगति आयगी, इन मज़दूर-संस्थाओं के वैधानिक कार्यों की सफलता कम होती जायगी। जब उद्योगधंधों का विकास चरम

सीमा पर पहुँचेगा तब ह्रास का युग प्रारम्भ होगा और उस समय इन मज़दूर संस्थाओं के कार्यों में दो तरह की कठिनाइयां आयँगी। एक तो पैदावार में कमी करने के लिए पूँजीपति कम मज़दूरों को काम में लाना चाहेंगे, जिससे बाज़ार में मज़दूर ज़रूरत से ज़्यादा रहेंगे, और उनकी मांग में कमी हो जायगी। मांग में कमी होने से मज़दूरी की दर में कमी होना स्वाभाविक ही है। दूसरी बात यह कि इस मंदी के जमाने में चीज़ों की खपत बढ़ाने के लिए पूँजीपति उसकी क़ीमत में कमी करना चाहेंगे और क़ीमत में कमी करने के लिए वे अपने मुनाफ़े की ओर नज़र नहीं उठाकर मज़दूरी की ओर ही गृद्धदृष्टि डालेंगे और उसमें मनमानी कमी करेंगे। यों, साधारण समयों में जो कुछ ये संस्थायें प्राप्त किये होंगी, संकट के समय उनसे छिन जायगा!

रोज़ा के विचार से मज़दूर-संस्थायें मज़दूरों की आर्थिक संस्थायें हैं जिनका काम है कि वे पूँजीवाद के अन्दर मज़दूरी का जो शोषणकारी सिद्धान्त है, उसे बेरोक काम में आने से रोकें। ये संस्थायें मज़दूरों की आत्मरक्षा की संस्थायें हैं। निस्सन्देह इस आत्मरक्षा की क्रिया के सिलसिले में मज़दूरों को पूँजीवादी नियमों का प्रत्यक्ष अनुभव होगा, उनमें ताक़त आयेगी, धीरे धीरे युद्ध की अनिवार्यता उनपर प्रत्यक्ष होती जायगी और अन्ततः वे पूँजीवाद के साथ अपनी आख़िरी लड़ाई के लिए तैयारियाँ करेंगे। किन्तु, यह समझना कि ये संस्थायें धीरे-धीरे कारख़ानों के प्रबंध में अपनी जगह बनाती हुई, पहले तो पूँजीपतियों से मिलजुल कर, उनकी हिस्सेदारी में, और, अन्त में स्वतः ही कारखाने की प्रबंधक बन जायँगी और यों समाजवाद के लिए रास्ता खोल देंगी—रोज़ा के विचार में बिल्कुल ही भ्रामक था। सुधारवादियों ने शोर मचाया था, रोज़ा तो मज़दूर संस्थाओं की दुश्मन है, वह उनकी महत्ता कम करती है, किन्तु, इतिहास ने सिद्ध किया कि मज़दूरों के दुश्मन कौन थे? जहाँ रोज़ा ने मज़दूरों के काम में अपने प्राण न्योछावर कर दिये, वहाँ उसे बदनाम करनेवालों ने पूँजीपतियों के हाथ अपने को बेंच दिया!

जेल की पहली झलक!

जिस समय रोज़ा ने इन सुधारवादियोंसे सैद्धान्तिक संघर्ष शुरू किया, उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ ३० वर्ष की थी। इस समय रोज़ा ने जो लेख लिखे, उनमें एक ओर जहाँ प्रौढ़ता और गम्भीरता है, वहाँ दूसरी ओर जवानी की उमंग और

शक्ति भी है। जिस समय यह विवाद चल रहा था, वौल्मार नामक एक प्रसिद्ध कार्यशील समाजवादी नेता ने संकुचित, बाल की खाल निकालने वाले और अयथार्थवादी सिद्धान्तवादियों की ओर घृणा से उँगली उठाते हुए कहा था—हर आदमी सिद्धान्त पर डटा रह सकता है, उसके लिए ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु, रोज़ा का यह ख़याल नहीं था। उसका कहना था कि मज़दूर वर्ग का सही नेतृत्व करने के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान और व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की सख्त ज़रूरत है। ऐसा नहीं होने से मज़दूर-आन्दोलन की धारा मरुभूमि में जाकर सूख जायगी। शांति के ज़माने में सुधारवादियों को अपने प्रभाव बढ़ाने में सहूलियत होती है, इसलिए जबतक उनका ज़हर मज़दूरों की पार्टी में असर न कर पाये, उसी समय उसे निचोड़ कर या काटकर अलग कर देना चाहिये। इसलिए उसने इस बात का भी आन्दोलन शुरू किया कि ब्रन्स्टीन और उसके सुधारवादियों को जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी से निकाल बाहर किया जाय।

किन्तु, उस समय इस पार्टी की अजीब हालत थी। यद्यपि पार्टी के साधारण सदस्यों में ९० फ़ी सदी आदमी इस सुधारवाद के ख़िलाफ़ थे, किन्तु, पार्टी के जो पदाधिकारी थे, या मज़दूरसंघों में जो प्रधान स्थान रखते थे, उनमें सुधारवाद ने ज़बर्दस्त घर कर लिया था। वे एकता की दुहाई देकर मज़दूर आन्दोलन की जड़ पर ही कुठार चलानेवाली इस सुधारवादी भावना को प्रश्रय देते थे। उसने १८९८ के अक्तूबर में एक पत्र समाजवादी नेता बेबेल के पास लिखकर यह उलाहना दिया कि क्यों नहीं आप और कौट्स्की उसे पार्टी से निकालने पर ज़ोर देते हैं ? जब हम यह समझ गये हैं कि ब्रन्स्टीन अपनी जगह से नीचे उतर आया है, पतित हो गया है, तो फिर क्यों नहीं पार्टी उसे एक ख़ुराफ़ाती और नीच समाज सुधारक समझकर तदनुसार बर्ताव करे ? किन्तु, एक ओर उसकी बातों का ये लोग खंडन भी करते थे, दूसरी तरफ़ उसे बर्दाश्त किये जाते थे, क्योंकि वे लोग पार्टी में फूट हो जाने से बहुत ही डरते थे !

एक ओर रोज़ा इन सुधारवादियों से सैद्धान्तिक लड़ाई करती थी, दूसरी ओर अपना समय पोलैंड के मज़दूर आन्दोलन में लगाती थी, जो १८९९ के बाद फिर नई करवट ले रहा था। उसका व्यक्तिगत जीवन लिखने-पढ़ने में, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय काँग्रेसों के लिए तैयारियाँ करने में और व्याख्यान देने में व्यतीत होता

था। १८९९ में जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी ने अपने मुखपत्र 'वोर्वार्ट' (अग्रसर) के सम्पादकीय विभाग में उसे स्थान देने का निश्चय किया, किन्तु, रोज़ा ने उसे अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसके प्रमुख सम्पादक विल्हेल्म लिब्क्नेख्त से उसका कुछ मतभेद रहता था। यद्यपि वह विल्हेल्म लिब्तक्नेख्त को "क्रान्ति का बूढ़ा सिपाही" मानकर बहुत ही इज़्ज़त करती, किन्तु, वह सिद्धान्त की बातों में सुलह करने को तैयार नहीं थी।

ब्रूनों स्कोलैंक की मृत्यु १९०२ में हुई, तब लिपजिग से निकलने वाले उसके पत्र की सम्पादिका वह बनाई गई। ज्योंही पूँजीवादी पत्रों को इसकी खबर लगी, उन्होंने अजीब शोर मचाया। एक अख़बार ने लिखा,—उस राँड रोज़ा को निकाल बाहर करना चाहिये जो अपने को क्रान्ति की लाल पताका की एकमात्र अलम-बरदार समझती है; तो दूसरे अख़बार ने उसे 'खूनी रोज़ा' की उपाधि देकर इसपर आश्चर्य प्रगट किया कि किस तरह वह इतने बड़े प्रतिष्ठित पत्र की सम्पादिका बन बैठी है। पूँजीवादियों के सुर में सुधारवादियों ने भी अपने सुर मिलाये और रोज़ा के ख़िलाफ़ एक अजीब बवंडर उठ खड़ा हुआ। इस बवंडर से वह घबराने वाली नहीं थी, किन्तु, उसे आश्चर्य यह जानकर हुआ कि लिपजिग के जिन समाजवादियों को अपनी 'लहराती हुई लाल पताका' पर नाज़ था, उन्होंने ही यह मुनासिब समझा कि रोज़ा की क़लम पर ज़रा बन्धन रखा जाय। रोज़ा इसे क्यों बर्दाश्त करती? उसने सम्पादक पद से इस्तीफ़ा दे दिया, यहां तक कि उस पत्र में लेख लिखना बंद कर दिया।

रोज़ा के बाद उस पत्र का सम्पादक सुप्रसिद्ध समाजवादी फ्रांज मेहरिंग बनाया गया। इस पर रोज़ा बहुत नाराज़ हुई कि क्यों उसने उसके अधिकारों की ज़ोरदार ढंग से रक्षा नहीं की? उस समय से मेहरिंग और रोज़ा में प्रायः ही नहीं पटती रही। किन्तु, जब ड्रेसडेन-कांग्रेस में उसी मेहरिंग पर चारों ओर से बौछारें होने लगीं और उसके विपक्षियों ने उसे अकेला समझ उस पर प्रहार-पर-प्रहार करना शुरू किया, रोज़ा झट मेहरिंग के पक्ष में आकर उसकी ढाल बन गई। मतभेद होने पर भी रोज़ा मेहरिंग की योग्यता को नहीं भूल सकती थी। यों ही फ्रांस के ख्यातिलब्ध समाजवादी नेता जौरे से उसकी प्रायः ही झड़प हो जाती थी, किन्तु, जब १९०४ की अमैस्टर्डाम कांग्रेसमें जौरे के भाषण का अनुवाद करनेवाला कोई नहीं मिला, तो रोज़ा झट उठ खड़ी हुई और अपने विरुद्ध में दिये गये

भाषण को उसने ओजस्वी शब्दों में अनुवाद कर श्रोताओं को चकित कर दिया। रोज़ा के इस कार्य से मुग्ध हो जौरे ने अपने भाषण को इन शब्दों में अन्त किया— "साथियो, आपने देखा कि राजनीतिक मतभेद हमारे सहयोग में हमेशा बाधक नहीं बन सकता!"

इधर रोज़ा की प्रसिद्धि बढ़ रही थी, उधर जर्मन सरकार की नज़र पर वह चढ़ रही थी। पोलैंड का जो हिस्सा उस समय जर्मनी में पड़ता था, उसमें पोलिश सभ्यता का नाश कर जर्मनी की भाषा और रीति-नीति के प्रचार की जो सरकारी चेष्टायें हो रही थीं, उनके ख़िलाफ़ रोज़ा ने एक पुस्तिका छपवाई। इसपर सरकारी वकील ने उस पर सरकारी मिनिस्टर की प्रतिष्ठा में बट्टा लगाने के अपराध में मुक़दमा चलाया। इसपर उसे क्या सज़ा मिली, इसका काग़ज़ नहीं मिलता, किन्तु, १९०४ में उसे तीन महीने की सज़ा जर्मनी के सर्वे सर्वा क़ैसर का अपमान करने के जुर्म में दी गई। यह 'अपमान' क्या था? रोज़ा ने क़ैसर के एक भाषण की चर्चा करते हुए कहा था—'जो आदमी यह कहता है कि जर्मनी के मज़दूर ख़ुशहाल हैं, वह उनके बारे में पूरा हाल जानता ही नहीं है।" अपनी सज़ा का ज़्यादा हिस्सा वह भुगत चुकी थी कि सैक्सनी के राजा के मरने पर उसे 'ऐमेनेस्टी' में छोड़ने की आज्ञा हुई। रोज़ा ने कहा कि जो प्रजातंत्रवादी है, वह राजा की कृपा को ग्रहण कर नहीं सकता और उसने अपने सेल से बाहर होना अस्वीकार कर दिया। किन्तु, उसे ज़बर्दस्ती जेल से निकाला गया।

: ४ : क्रान्तिकारी मोर्चे पर

लेनिन और रोज़ा

रोज़ा लुक्जेम्बुर्ग जर्मनी में बस गई थी, वहाँ की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी में उसका उच्चस्थान हो गया था, वहाँ के मजदूर आन्दोलन में वह घुलमिल गई थी, तोभी वह अपनी प्यारी मातृभूमि पोलैंड को किस तरह भूल सकती थी ? यह तो लाचारी थी, जिसने उसे जर्मनी में ला पटका था।

पौलैंड उस समय रूस के जार की मातहत में था। अतएव, रूस में ज़ार-शाही के ख़िलाफ़ जो आन्दोलन चल रहे थे, उनसे वह तटस्थ नहीं रह सकती थी। ख़ासकर रूस की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी से तो उसका बहुत ही गहरा सम्बन्ध था। इस पार्टी के विकास को वह सिर्फ़ बड़ी उत्सुकता से देखती ही नहीं थी, बल्कि उसके सैद्धान्तिक विवादों में स्वयं भाग भी लेती थी।

१९०० में रूसी सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के मुखपत्र की हैसियत से 'इस्करा' (चिनगारी) नामक पत्र लंदन से निकलने लगा। इस पत्र के सम्पादकीय विभाग में पुराने नेताओं के प्रतिनिधि स्वरूप प्लैखनौव, एक्जेल्रौड और श्रीमती वीरा सैसुलिच और नई पीढ़ी के प्रतिनिधि रूप में लेनिन, मोटौंव और पोट्रेसौव थे। कुछ दिनों के बाद साइबेरिया से भागा ट्रौट्स्की भी इसमें शामिल हुआ।

'इस्करा' का मुख्य उद्देश्य था मार्क्सवाद के ठोस आधार पर रूस के मजदूर आन्दोलन को चलाने की कोशिश करना। सैद्धान्तिक प्रश्न को लेकर रूस में बड़ी गड़बड़ी मची हुई थी। 'नैरोदनिकी' नाम से जो पुराने क्रान्तिकारी थे, वे कहते थे कि रूस में पूँजीवाद का विकास हुआ नहीं है, अतः यहाँ मज़दूरों पर आश्रित समाजवाद की स्थापना का स्वप्न देखना फ़िज़ूल है। उनके अनुसार रूस में किसानों पर आश्रित एक ख़ास ढंग का समाजवाद होगा। जो मार्क्सवादी थे, उनमें भी एक दल ऐसा था जो मज़दूरों के आर्थिक संघर्षों को ही सबकुछ मानता था। वह राजनीतिक क्षेत्र में सुधारों में ही अपने को केन्द्रित रखना चाहता था, जो सुधार ज़ारशाही की कृपा से प्राप्त हो सके। यह विचार 'अर्थवाद' के नाम से

मशहूर था। 'इस्करा' ने इन दोनों प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त आवाज़ उठाई थी। एक ओर उसने 'नैरोदनिकी' के विचारों का खंडन किया, दूसरी ओर उसने इन 'अर्थवादियों' की धज्जियाँ उड़ाईं।

इन अर्थवादियों में क्रिचेवेस्की रोज़ा के घनिष्ठ मित्रों में से थी, किन्तु, रोज़ा ने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की और इस सम्बन्ध में 'इस्करा' के मतों का ही समर्थन किया।

१९०३ में रूसी सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी में फूट होगई और वह दो दलों में—बौल्शेविक और मैन्शेविक—में बँट गई। पार्टी के संगठन का क्या आधार हो, इसपर दो प्रस्ताव थे, एक लेनिन का, दूसरा मार्टौव का। अन्ततः लेनिन की बात रह गई। उसके पक्ष में बहुमत हो गया, इसलिए वह बौल्शेविक कहलाया।

संगठन के प्रश्न को लेकर बहुत ही विवाद चला। रोज़ा लेनिन के इस मत से बिल्कुल सहमत थी कि मज़दूरों की क्रान्तिकारी पार्टी को उसके वर्ग का अगला दस्ता बनना चाहिये, उसका ज़बर्दस्त केन्द्रीय संगठन चाहिये और जो बहुमत से तय हो, उसका पालन सख़्ती से किया जाना चाहिये। एक क्रान्तिकारी पार्टी में अनुशासन की ढिलाई उचित नहीं। किन्तु, इसके आगे लेनिन और उसमें मतभेद था। लेनिन का कहना था कि क्रान्तिकारी पार्टी को जिस ग़ैरक़ानूनी ढंग पर काम करना होता है, उसे देखते, केन्द्रीय समिति को पूर्ण अधिकार दिया जाना चाहिये, उसके निर्णयों पर चूँचरा भी नहीं किया जाना चाहिये। रोज़ा का कहना था कि आलोचना का अधिकार छीना जाना अच्छा नहीं। वह कहती—अख़बारों में एकाध लेख लिखे जाने या किसी सदस्य द्वारा मतभेद ज़ाहिर किये जाने से कोई महान पार्टी टूट नहीं सकती। उल्टे, आलोचना का अधिकार नहीं रहने पर पार्टी में निरंकुशता और तानाशाही फैलेगी। उस समय लेनिन ने रोज़ा का विरोध किया था, किन्तु, उसी लेनिन ने थर्ड इन्टरनेशनल की स्थापनाके समय उस के विधान में, ऐसी पाबंदियाँ रखीं, जिनसे पार्टी के अन्दर काफ़ी स्वतंत्रता रहे, पर, पीछे, लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन और उसके अनुयायियों ने लेनिन के १९०३–४ के भाषणों को उद्धृत कर सब चौपट कर अपने कामों द्वारा रोज़ा के कथनों को सार्थक कर दिया—आज समूची थर्ड इन्टरनेशनल और उससे सम्बद्ध कम्यूनिस्ट पार्टियाँ इस तानाशाही के अन्दर सड़ रही हैं।

ख़ैर! रोज़ा और लेनिन में जो उस समय मतभेद था, उसका प्रधान कारण दोनों की स्थिति में है। रोज़ा आलोचना का अधिकार इसलिए चाहती थी

कि उस समय जर्मनी की पार्टी में सुधारवादियों का बोलबाला था और वह जनमत को अपने पक्ष में करके उसके द्वारा उनपर दबाव डालना चाहती थी। इधर लेनिन का ध्यान अपने उद्देश्य की सफलता की ओर था, जिसके लिए वह किसी भी राजनीतिक साधन का इस्तेमाल करने में नहीं हिचकना चाहता था। रोज़ा का ध्यान जनता की ओर था, लेनिन का ध्यान पार्टी की ओर। लेनिन एक सुसज्जित सेना का सिपहसालार था, रोज़ा एक जनसमूह को आगे चलानेवाली ध्वजाधारिणी!

किन्तु, पार्टी के संगठन के बारे में थोड़ा मतभेद होने पर भी क्रान्ति के रूप, उद्देश्य और रण-कौशल के विषय में रोज़ा और लेनिन में बिल्कुल मतैक्य था। यह तो सभी मार्क्सवादी मानते थे कि रूस में जो पहली क्रान्ति होगी, वह पूँजीवादी क्रान्ति होगी—जिसमें ज़ारशाही एकछत्रता का नाश होकर पूँजीवादी प्रजातंत्र की स्थापना होगी। किन्तु, इससे मैन्शेविक, नैरोदनिकी तथा पोलिश सोशलिस्ट पार्टी के तत्कालीन संचालक यह निष्कर्ष निकालते थे कि चूंकि पहली क्रान्ति पूँजीवादी क्रान्ति होगी, इसलिए इसका नेतृत्व भी पूँजीवादियों पर ही छोड़ देना चाहिये। मज़दूर वर्ग उनका सिर्फ़ समर्थन मात्र करें। अगर मज़दूर वर्ग आगे बढ़ेगा, तो पूँजीवादी घबरा उठेंगे, वे प्रतिक्रिया की ओर मुड़ेंगे और यों क्रान्ति का मौक़ा ही बर्बाद हो जायगा। किन्तु, लेनिन और उसकी बौल्शेविक पार्टी एवं पार्वस, कौट्स्की, ट्रौट्स्की एवं रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग का मत इसके ठीक विपरीत था।

उनका कहना था कि जो लोग इस तरह की बातें कहते हैं, वे या तो प्रतिक्रियावादी हैं या कल्पना लोक में विचरण करनेवाले जीव हैं। फ्रांस की क्रान्ति भी पूँजीवादी क्रान्ति थी, किन्तु, वह इसलिए सफल हुई कि जेकोबिनों के अधिनायकत्व में ग़रीबों ने सामंतशाही को जड़ से उखाड़ फेंका और राजसत्ता पर क़ब्ज़ा किया। वहाँ के पूँजीवादी इतनी दूर तक नहीं जाना चाहते थे। किन्तु, १८४८ में जर्मनी की क्रान्ति इसलिए असफल हुई कि जर्मनी के पूँजीपति जर्मन-मज़दूरों से डरते थे, वे भागकर राजा की गोद में जा गिरे और यों एक छत्र शासन का अंत नहीं हुआ और न प्रजातंत्र क़ायम हो पाया। रूस के पूँजीवादी भी इसी राह को पकड़ेंगे और बड़ी तेज़ी से, क्योंकि रूस के मज़दूर उस समय के जर्मन मज़दूरों से ज़्यादा संगठित हैं। रूस की पूँजीवादी क्रान्ति की सफलता मज़दूरों के नेतृत्व पर ही निर्भर है। रूस को पूँजीवादियों में उदारदली मनोवृत्ति का सर्वथा अभाव है। शहर के जो मध्य श्रेणी के लोग हैं, उनमें राजनीतिक चेतना का अभाव है। दूसरे देशों के मध्यश्रेणी के लोगों ने ही मज़दूरों में जागृति पैदा की, रूस में ऐसा नहीं हुआ। यहां सिर्फ़ किसान

हैं, जिन्हें ज़मीन की भूख ने क्रान्तिकारी बना रखा है। किन्तु, वे देहातों में बँटे हुए हैं, वे नेतृत्व करने की स्थिति में नहीं हैं, बल्कि स्वयं उन्हें ही नेतृत्व चाहिये। ऐसी हालत में सिर्फ़ मज़दूर वर्ग ही ऐसा है, जो इस पहली क्रान्ति का भी नेतृत्व कर सकता है।

फिर, इस क्रान्ति की सफलता के बाद जो सरकार क़ायम हो, उसका विकास और रूप कैसा होगा? मैन्शेविक और उनके साथी कहते थे कि निस्सन्देह वह सरकार पूँजीवादी सरकार होगी और उसमें समाजवादियों को शामिल नहीं होना चाहिये। लेनिन इसके खिलाफ़ था। उसका कहना था कि नहीं, मज़दूर वर्ग अपने नेतृत्व में क्रान्ति करके पहले "मज़दूरों और किसानों का क्रान्तिकारी प्रजातंत्री एकाधिकार" क़ायम करेगा, फिर उसीके द्वारा "पूँजीवादी प्रजातंत्र" का आधार पैदा किया जायगा। रोज़ा लेनिन से यहाँ थोड़ा मतभेद रखती थी। वह कहती थी कि किसानों को मिलाकर ज़ारशाही खतम करने के बाद मज़दूरवर्ग को चाहिये कि वह बिना हिचक के शासन अपने हाथ में ले, अपनी अस्थायी सरकार बनावे, जनता के क्रान्तिकारी हिस्से को सशस्त्र करे और मज़दूरों में खुलकर हथियार बाँटे। फिर समाज में राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए जितनी बुनियादी कार्रवाइयों की ज़रूरत हो, उन्हें काम में लाकर, एक आम वोट के अधिकार के आधारपर विधान-परिषद को बुलावे, जिसका काम स्थायी विधान तैयार करना हो। जब तक यह विधान तैयार नहीं हो जाय, क्रान्तिकारी सरकार और जनता को चाहिये कि अपने अस्त्र को सम्हाले रहें, जिसमें यह विधान-परिषद् क्रान्ति को पीछे की ओर घसीटने की चेष्टा नहीं कर सके। उसकी सम्मति में जो पहली क्रान्तिकारी सरकार होगी उसका रूप "किसानों पर आश्रित मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी एकाधिकार" होना चाहिये।

१९०५ का वह तूफ़ान!

१९०५ की २२ जनवरी का रविवार रूस के इतिहास में ही नहीं, संसार के मज़दूरवर्ग के संघर्ष के इतिहास में हमेशा याद रखा जायगा। इस "खूनी रविवार" को ही निरीह मज़दूरों के खून से मज़दूरों की क्रान्ति की नींव डाली गई, जिसपर उसके बारह वर्ष बाद, १९१६ में मज़दूरों के राज्य के रूप में एक नई इमारत खड़ी की गई।

रूस के मज़दूरों में एक नई क्रान्तिकारी प्रवृत्ति घर कर रही है, इसका पता १८९६ में ही चल गया था। इसी वर्ष रूस में सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का संगठन हुआ और इसी साल जिस समय निकोलस द्वितीय रूस की गद्दी पर बैठा, पिटर्सबर्ग (पेट्रोग्राड=लेनिनग्राड) के ४०,००० मज़दूरों ने इस बात के लिए हड़ताल की कि इस राज्याभिषेक के चलते उन्हें तीन दिनों की मज़दूरी के घाटे में क्यों रखा गया? इस हड़ताल को बुरी तरह कुचल दिया गया। फिर १८९६ की जनवरी में एक ज़बर्दस्त हड़ताल हुई, जिसमें मज़दूरों को विजय मिली, जिसके अनुसार अब मज़दूरों से ज़्यादा–से–ज़्यादा ११॥ घंटे प्रतिदिन काम कराया जा सकता था।

१९०२ में बातुम में हड़ताल हुई जिसकी सहानुभूति में निज़नी नवोगोरोद और साराटोव में बड़े प्रदर्शन हुए। इसी साल के अन्त में रौस्टोव में आम हड़ताल हुई। मज़दूरों ने रूस के इतिहास में पहली बार सार्वजनिक सभा का अधिकार अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से प्राप्त किया। १९०३ और १९०४में दक्षिण रूस सामाजिक उथल पुथल का केन्द्र बना हुआ था। मज़दूरों की आम हड़ताल एक शहर से दूसरे शहर में आग की तरह फैलती गई। बाकू से तिफ़लिस, फिर बातुम, ओडेसा, कीव, निकोलीव, आदि शहर इसकी लपट में आ गये। रूस की ये हड़तालें पश्चिमी यूरोप की हड़तालों से भिन्न थीं। इनका विस्तार, इनकी क्षिप्रगति, इनका विकास, आर्थिक क्षेत्र से राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश-ये सब लक्षण क्रान्तिकारी थे। इन हड़तालों में पुलिस और सेना से डट कर मुक़ाबले भी हुए। शहर की हवा देहात में गई। किसानों ने अपने ज़मीन्दारों के ख़िलाफ़ विद्रोह किया। रूसी क्रान्ति की पहली झलक साफ़ दिखाई देने लगी।

१९०४ में रूस–जापान–युद्ध शुरू हुआ। पहले तो जापानियों के ख़िलाफ़ देशभक्ति की ज़बर्दस्त लहर उठी। ज़ार ने यह युद्ध इसी उद्देश्य से शुरू भी कराया था। किन्तु, ज्यों ज्यों ज़ार की सेना हारने लगी, देशभक्ति की वह लहर ज़ारशाही के ख़िलाफ़ मुड़ी। उदारपंथी पूँजीवादी आगे बढ़े, लम्बी लम्बी तक़रीरें शुरू कीं, सभायें कीं, जिनमें प्रजातंत्र की मांग पेश की गई। मालूम होता था कि प्रजातंत्रात्मक आन्दोलन का नेतृत्व इन पूँजीवादियों, जमींदारों और वकीलों के हाथों में आ गया, किन्तु, इस साल के अन्त में ज़ार ने एक अच्छी धमकी उन्हें दी। फिर क्या था, वे लोग दुम दबाकर अपने ऐशगाहों में जा घुसे।

किन्तु ज़ार की धमकी का जवाब मज़दूरों ने हड़ताल करके दिया। १९०५ की जनवरी में पिटर्सबर्ग के सुप्रसिद्ध पुटिलौव कारख़ाने में, दो मज़दूरों को निकाल

बाहर किये जाने पर, हड़ताल हुई। यह हड़ताल फैलती गई। २० जनवरी तक १,४०,००० मज़दूर इसमें शामिल हो गये। तमाशा यह था कि इस हड़ताल का संचालन एक ऐसी मज़दूर-संस्था द्वारा हो रहा था, जिसे ज़ारशाही की पुलिस ने, समाजवादियों के ख़िलाफ़, स्थापित कराया था और इनका नेतृत्व गैपन नामक एक पादरी के हाथों में था, जिसका चरित संदेहहीन नहीं था।

गैपन-पादरी के नेतृत्व में २२ जनवरी, रविवार, को दो लाख मज़दूर, जिनमें उनकी स्त्रियां और बच्चे भी शामिल थे, ज़ार के शरद-प्रासाद की ओर चले! उनके हाथों में उस दिन लाल झंडे नहीं थे। बल्कि ज़ार की तस्वीरें थीं, जिसे पिता समझकर, अपनी फ़रियाद सुनाने, वे उसकी 'हुज़ुर' में जा रहे थे। एक दरख़ास्त भी तैयार कर रखी थी, जिसमें राजबंदियों की रिहाई, नागरिक स्वतंत्रता, दिन में सिर्फ़ आठ घंटे का काम, अच्छी मज़दूरी, जनता को ज़मीन और आम वोट के अधिकार पर विधान-परिषद् बुलाने की मांग पेश करते हुए लिखा गया था—

"बादशाह सलामत, ये ही हमारी मांगें हैं। वादा कीजिये कि इन्हें पूरा किया जायगा। क़सम खाइये कि ये काम में लाई जायँगी। ऐसा करके आप रूस को सुखी और सम्पन्न ही नहीं बनावेंगे, आप का नाम हमारे और हमारे बच्चों के दिलों में हमेशा के लिए सुनहले अक्षरों में लिख जायगा। लेकिन, अगर आपने हमारी अर्जीपर ध्यान नहीं दिया, तो हम, आपके प्रासाद के इसी मैदान में मर मिटेंगे!...हमारा बलिदान रूस की रक्षा करे, जो बहुत कुछ सह चुका!"

और, सचमुच उसी मैदान में उनका बलिदान हुआ। वे निरीह पशु-से ख़ुद उस बाड़े में जा घुसे थे, जहाँ जल्लाद की तेज़ छुरी चमक रही थी। दो हज़ार मर्द, औरत और बच्चे क़त्ल किये गये और चार हज़ार घायल हुए। किन्तु, उस दिन जो बन्दूक़ें उस मैदान में गरजीं, उनकी आवाज़ ने समूचे रूस को जगा दिया, उस दिन जो ख़ून की धारा बही, उसमें ही रूस की क्रान्तिदेवी का अभिषेक हुआ। जनवरी ख़तम होते होते, दस दिन भी नहीं बीतने पाये कि रूस के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के दस लाख मज़दूर कारख़ाने छोड़ कर सड़कों पर निकल आये। फरवरी में रोज़ा ने "न्यू ज़ीट" (नवजीवन) नामक पत्र में जिसका सम्पादक कौट्स्की था—"मज़दूरों की अर्ज़ी" शीर्षक से लिखा—

"प्रकृति की तरह इतिहास की भी दिल्लगियाँ हुआ करती हैं। रूस के मज़दूरों की माँग बहुत ही छोटी थी—सिर्फ़ यही कि रूस के मेहरबान बादशाह अपने ही

हाथों से ज़ारशाही का ताज उतार कर फेंक दें, अपनी बादशाहत के गर्दन पर अपने ही हाथों छुरी चला दें। यह बुढ़िया की कहानी–सी लगे, किन्तु, इसमें दृढ़ और परिपक्व मज़दूरवर्ग की वर्ग–पुकार छिपी थी। यह अच्छा ही हुआ कि उत्तेजित जनता ने यह बचपने का निर्णय किया कि अपने " छोटे खुदा " के सामने जाकर उसकी दया की जाँच करे और तब खुद ब खुद फ़ौलादी दलील से खिँच कर उस युद्धभूमि में पहुँचे जहाँ दो दुनियाँ, दो सदियाँ ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ रही हों। "

साल भर तक यह ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई चलती रही। खूनी रविवार की यह घटना रूस के कोने कोने में फैल गई। राजनीतिक हड़तालों का बोलबाला हुआ। आज़ादी और विधान–परिषद् की पुकार ज़मीन और आस्मान को गुंजायमान कर रही थी। सरकारी हाकिम हके बक्के हो रहे थे। विजय की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी। सड़कों पर बैरिकेड बनने लगे थे। किन्तु, हड़ताल की बड़ी लहर, समय पाकर, छोटे छोटे टुकड़ों में बँटने लगी, जिनका उद्देश्य राजनीतिक नहीं रह कर आर्थिक हो गया—ज़्यादा वेतन, कम घंटे काम, अच्छी रहन–सहन—ये ही माँगें थीं! इस तरह आन्दोलन की गति मंद पड़ रही थी कि जापानी रणक्षत्र से रूस की हार की खबरें आने लगीं। फिर हड़तालों का ज़ोर हुआ और इस बार मज़दूरों के साथ किसानों और विद्यार्थियों के भी कन्धे थे। विद्यार्थियों ने स्कूल-कालेज छोड़े, किसानों ने बड़े ज़मीन्दारों की मिलकीयत में आग लगाना शुरू किया। सैनिक भी अछूते नहीं रहे। तिफ़लिस में पहली फ़ौज़ी बग़ावत हुई। अप्रैल में बाल्टिक नौ सेना के जहाज़ियों ने पिटर्सबर्ग की सड़कों पर प्रदर्शन किया। शहरों में हड़ताल, प्रदर्शन और सड़कों परकी लड़ाई की धूम थी। मई-दिवस को सभी कारखानों में आम हड़ताल थी। वारसा और कालिश में हड़तालियों और फौज़ में मुठभेड़ हुई। दमन का भी दौरदौरा था। जून में वारसा की सड़कों पर बैरिकेड की लड़ाइयाँ जम के हुईं। 'पोटेम्किन' नामक जंगी जहाज़ की फ़ौज़ ने विद्रोह किया और उसपर अपना क़ब्ज़ा जमाया। लिबाओ, रीगा और दूसरे शहरों में भी फ़ौज़ ने बग़ावत की। किसानों का विद्रोह बढ़ता गया, आंतकवादी कार्य भी शुरू हुए। जुलाई में चिरसन में सिपाही विद्रोह हुआ, रेलवे में हड़तालें हुईं, बाल्टिक प्रान्तों के किसानों ने बग़ावत पर बग़ावत की। अगस्त में ज़ार के मंत्रियों ने घोषित किया कि नई डूमा बुलाई जायगी, जिसका अधिकार सीमित था और उसके लिए वोट देने की योग्यता का जो उल्लेख हुआ था, उसमें बहुत से मज़दूर नहीं आते थे।

सितम्बर में रूस की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी ने उसके बहिष्कार का निर्णय किया। अक्तूबर में मास्को में आम हड़ताल हुई, जो देशभर में फैल गई। इस हड़ताल में लाखों मज़दूर शामिल हुए, देश का आर्थिक और राजनीतिक ढांचा डगमग कर उठा। अन्तमें ज़ारशाही को झुकना पड़ा। ज़ार ने अपने नाम से घोषणा प्रकाशित की, जिसमें कुछ जनतंत्रात्मक अधिकार देने और व्यापक वोट के आधार पर डूमा बुलाने की बात थी।

इस समय समूचा रूस एक खौलता हुआ कड़ाह बन रहा था। मज़दूर, किसान, विद्यार्थी, सैनिक सब में एक अजीब उथलपुथल, हलचल, और क्रिया-शीलता थी। लेकिन, पूँजीवादियों का कहीं पता नहीं था, जिन्हें मैन्शेविक नेता इस आन्दोलन का नेतृत्व करनेवाले बताते थे। सब जगह मज़दूरों का ही नेतृत्व था। इसी महान हलचल के बीच २६ अक्टूबर को पिटर्सबर्ग में " मज़दूरों और किसानों की सोवियत " क़ायम हुई। ऐसी सोवियतें देशभर में क़ायम होने लगीं और पूरे आन्दोलन का संचालन इन्हीं के द्वारा होने लगा। मैन्शेविकों के बहुत से कार्यकर्त्ता अपने नेताओं को धता बताकर इन सोवियतों में बौल्शेविकों के साथ काम करने लगे। पीछे १९१७ में इन सोवियतों ने जो कमाल किया, वह तो इतिहास की अमर घटना बनी रहेगी। अब तो सोवियत समाजवाद के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ गई है।

रोज़ा उस समय बर्लिन में थी। एक तो वह बीमार थी, दूसरे उस समय ऐसी सहूलियत न थी कि वह दौड़कर पोलैंड जाय! किन्तु, वह बर्लिन में भी चैन से बैठी नहीं थी। वह बड़ी तत्परता से अपनी पूरी शक्ति लगाकर, इस महान यज्ञ में अपनी समिधा डाल रही थी। वह दूर बैठी, उन घटनाओं को तीखी निगाह से देखती, उनका विश्लेषण करती, उनसे निष्कर्ष निकालती, आगे के लिए राह सुझाती। जो लोग उसमें क्रियात्मक ढंग से लगे हुए थे, उन्हें इन कामों की फ़ुर्सत कहाँ थी ? किन्तु, यह काम भी कुछ कम ज़रूरी नहीं था। रोज़ा दूर बैठकर, फ़ौज़ के जनरल–स्टाफ़ की तरह, मोर्चेबन्दी की देखभाल करती और प्लैन बनाती और बताती हुई उन्हीं का काम कर रही थी।

फिर, जर्मनी के मज़दूरों और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी क्षेत्र में रूस की इस महान हलचल की सही जानकारी देना और उसकी सहानुभूति और सहायता रूस के मज़दूरों की ओर प्राप्त करना भी रोज़ा का बहुत बड़ा काम था। रूहर प्रान्तके मज़दूरों ने जनवरी में हड़ताल की। यह हड़ताल प्रारम्भ में आर्थिक थी,

किन्तु, पीछे इसने राजनीतिक रंग पकड़ा और जर्मन सरकार को कुछ सुधार देने को बाध्य होना पड़ा। जर्मनी के मज़दूरों में रूस की ओर दिलचस्पी बढ़ती गई और रोज़ा की बुलाहट चारों ओर से होने लगी। रोज़ा तबियत ख़राब होने पर भी दिन-रात दौरे पर रहती। जहाँ वह जाती, क्रान्ति की प्रतिनिधि समझकर मज़दूर उसकी बातों को बड़े चाव से सुनते। जर्मनी की मज़दूर संस्थायें रोज़ा से बहुत घबराती थीं, किन्तु, मज़दूरों में उसके लिए ऐसी उमंग थी कि उनका सभामंच रोज़ा के लिए धीरे-धीरे सुलभ होने लगा। जर्मन मज़दूरों की सहानुभूति रूसी मज़दूरों के प्रति दिनदिन बढ़ती गयी।

यह देखकर जर्मनी के सुधारपंथी समाजवादी नेताओं का आसन डोल उठा। १९०४ में, एक वर्ष पहले, कार्ल लिब्तक्नेख़्त का वह प्रस्ताव उनलोगों के विरोध के कारण गिर चुका था, जिसमें जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी से अनुरोध-किया गया था कि वह आम हड़ताल को राजनीतिक के रूप में स्वीकार करे। रोज़ा ने रूस का उदाहरण देकर फिर मज़दूरों के सामने यह प्रश्न रखा और उसे यह सन्तोष हुआ कि १९०५ के शरत्काल में जेना में जो जर्मन सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की बैठक हुई, उसमें वह प्रस्ताव स्वीकार किया गया। किन्तु, इसकी शब्दा-वली की ऐसी तोड़मरोड़ की गई कि रोज़ा को उन सुधारपंथी नेताओं पर बड़ा क्रोध आया और उसने अपने भाषण में कहा—

"राजनीतिक आम हड़ताल के बारे में जो व्याख्यान दिये गये हैं, उनको सुनते समय, मैं बार-बार सोचती थी, क्या सचमुच हम रूसी क्रान्ति के ज़माने में हैं। पिछली क्रान्तियों ने, ख़ासकर १८४८ की क्रान्ति ने स्पष्ट कर दिया है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति में जनता पर रोक रखने की ज़रूरत नहीं, बल्कि रोक रखना है उन सुधारपंथी विधानवादियों और वकीलों पर जो जनता और क्रान्ति को कभी भी धोखा दे सकते हैं।...इस हिम्मतपस्ती के वातावरण में हमें इस बात को डंके की चोट कह देना है कि मार्क्स का यह कहना 'मज़दूरों को सिवा ज़ंजीरों के कुछ खोना नहीं है और उन्हें पाना है सारी दुनिया'–सिर्फ़ सभाओं में दुहराने की चीज़ नहीं है, बल्कि हम उसे काम में लाने को उतावले और मुस्तैद हैं!"

उसके इन शब्दों ने बेबेल को बहुत ही उत्तेजित किया। जवाब देते हुए अपने अन्तिम भाषण में उसने कहा—"जब मैं यह भाषण सुन रहा था, मैं बार बार पैर की ओर देखता था कि कहीं वे अभी से ख़ून की कीचड़ में तो नहीं

धँस चुके हैं।" कभी-कभी पुराने क्रांतिकारी भी अपने अतीत जीवन को भूलकर सभ्य नागरिक बन जाते हैं! बेवेल की ही तरह सरकारी वकील को भी उसके इस भाषण में खून की गंध मिली थी और इस अपराध में रोज़ा को दो महीने की सज़ा एक वर्ष बाद दी गई थी!

किन्तु, बेवेल चाहे जितना घबरायें, जर्मनी के सुधारपंथी नेता जितना भी आग बबूला हों, रोज़ा का प्रभाव जर्मनी के मज़दूरों पर इतना बढ़ रहा था कि पार्टी के मुखपत्र "वोखार्ट" के छः सुधारपंथी सम्पादकों को हट जाना पड़ा और उनकी जगह पर उग्र विचार के लोग लिये गये, जिनमें रोज़ा भी एक थी! किन्तु, रोज़ा के कानों में तो अब दूसरी पुकार आ रही थी!

युद्धभूमि में

वह पुकार थी मातृभूमि पोलैंड की, जिसकी सेवा ने सबसे पहले उसे जीवन-उत्सर्ग की ओर प्रेरित किया था। जबकि इतना बड़ा क्रान्तिकारी प्रयोग हो रहा हो, उसकी आत्मा सिर्फ़ उसके विश्लेषण या सहानुभूति-सृजन से नहीं संतुष्ट हो सकती थी। ज्योंही उसका स्वास्थ्य सुधरा, ज्योंही उसने यह समझ लिया कि क्रान्तिकारी परिस्थिति की सभी तक़लीफ़ों और असुविधाओं को अब उसका शरीर बर्दाश्त कर सकेगा, उसने जर्मनी छोड़ने और पोलैंड पहुँचने का निर्णय कर लिया। कहीं उसके साथी-नेता उसे इस तरह अपने को संकट में डालने से मना न कर दें, इसलिए, उसने उनसे भी यह बात गुप्त रखी और एक दिन एक जाली पासपोर्ट लेकर वह वार्सा के लिए रवाना हो गई।

यह १९०५ का दिसम्बर महीना था। ज़ार ने अपनी अक्तूबर की घोषणा को स्वयं रद्द कर दिया था। वह कुछ देना तो चाहता नहीं था, प्रलोभन देकर जनता को भ्रम में डाल, अपनी तैयारी के लिए वक़्त चाहता था। ज्योंही जनता में थोड़ी सुस्ती आई, उसने प्रत्याक्रमण शुरू कर दिया। किन्तु, मज़दूर इतने सस्ते उसे छोड़नेवाले नहीं थे। उस प्रत्याक्रमण के जवाब में उन्होंने भी हड़ताल शुरू की। मास्को से ही यह हड़ताल की लहर चली। रेलवे का चलना बिल्कुल बंद-सा हो गया था। जब रोज़ा जर्मनी-पोलैंड की सरहद पर पहुँची, उसे मालूम हुआ, वार्सा के लिए उस रास्ते की लाइन से कोई गाड़ी जाती नहीं है। अतः बड़ी चक्कर

काटकर वह इल्सोवो पहुँची। किन्तु, उसके पहुँचने के पहले ही वहाँ से भी गाड़ी का चलना बंद हो चुका था।

क्या रोज़ा फिर जर्मनी लौट जाय? घोड़ागाड़ी करके इस ज़माने में, लुकते–छिपते, वार्सा पहुँचना मुश्किल-सा ही था। इसी उधेड़बुन में वह पड़ी थी कि उसे मालूम हुआ, सैनिकों से भरी हुई एक ट्रेन वार्सा को जा रही है। जिसमें जनता उस ट्रेन का जाना जान न ले, इसलिए वह रात में जानेवाली थी–रोशनी भी काफ़ी कम कर दी गई थी। इस ट्रेन से ही क्यों न जाया जाय? किन्तु, अगर सैनिकों को मालूम हो गया, तो क्या वे उसकी बोटी–बोटी उड़ा देने में ज़रा भी हिचकेंगे? पर, जान के डर से डरे, उसका नाम रोज़ा हो नहीं सकता था। रोज़ा उसी ट्रेन पर सवार हुई। जाड़े के दिन थे। ट्रेन को बिजली से गरम नहीं किया गया था। एक अंधेरे, ठंडे कोने में सिकुड़ी बैठी रोज़ा जा रही थी। कहीं विद्रोहियों ने पटरी नहीं हटा दी हो, इसलिए ट्रेन धीरे धीरे बढ़ रही थी। हर स्टेशन पर सैनिक अपनी बन्दूक सम्हाल कर खड़े हो जाते, इसलिए कि कहीं बाग़ी जनता उनपर धावा नहीं कर दे। दो दिन में यह ट्रेन वार्सा पहुँची–क्रान्ति की यह नेता क्रान्तिविरोधी सेना के पहरे में, बड़ी हिफ़ाज़त से, क्रान्ति के मोर्चे पर पहुँच गई!!

१९०५ की इस क्रान्ति का संचालन पोलैंड में मुख्यतः वहाँ की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी कर रही थी। रोज़ा का जीवन–संगी लिओ जोगिचेस वहाँ पहले पहुँच चुका था। उसकी संगठन शक्ति ने कमाल कर दिखलाया था। जहाँ १९०४ में उस पार्टी के सिर्फ़ १००० सदस्य थे, वहाँ अब उनकी संख्या २५०००–पचीस हज़ार–हो चली थी। उनके अख़बार पोलैंड की भाषा, यहूदियों की भाषा और जर्मन भाषा में निकलते थे। पोलैंड के मज़दूर अपनी युद्धप्रियता में मास्को और पिटर्सबर्ग के मज़दूरों के क़दम पर क़दम मिलाकर चलते थे। इसका कारण एक तो था पोलैंड में उद्योगधंधों का रूस से भी ज़्यादा विकास, दूसरा रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग का नेतृत्व! रोज़ा और जोगिचेस को नौजवान क्रान्तिकारियों का एक ज़बर्दस्त जत्था मिला था–जिनमें जरजिंस्की, वारस्की, रैडेक, औसेम, हेनेकी, पलैकी, डोपस्की, लेडर, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं—इन लोगों ने पीछे १९१७ की रूसी क्रान्ति में भी ज़बर्दस्त काम किया।

जिस दिन रोज़ा वार्सा पहुँची, वहाँ फौज़ी क़ानून का दौरदौरा था। सड़कें सूनी पड़ी थीं, उनपर सिर्फ़ सैनिक गश्त दे रहे थे। मज़दूरों की हड़ताल चल रही

थी, किन्तु, इसमें शक नहीं कि मज़दूरों की हार हो चुकी थी। मास्को में जो बग़ावत हुई थी, उसे कुचला जा चुका था। ज्वार ख़त्म हो चुका था, भाटे की बारी थी। किन्तु, रोज़ा इस भाटे से घबरानेवाली नहीं थी, न निराश होनेवाली थी। उसने वार्सा पहुँचकर कौट्स्की को लिखा—

"इस हार का कारण साफ़ है। सिर्फ़ आम हड़ताल से अब काम चलनेवाला नहीं। एक आम हथियारबंद बग़ावत ही अब मज़दूरों के पक्ष में फ़ैसला दिला सकती है। किन्तु, इसके लिए तैयारी की जरूरत है।"

मज़दूरों में अब भी दम बाक़ी था। सभी सार्वजनिक सभाओं पर पाबंदी लगा दी गई थी, किन्तु, मज़दूर अपने कारख़ानों में निर्द्वन्द सभायें करते और अपने नेताओं के व्याख्यान कराते। कारख़ाने उनके क़िले रहे थे। मज़दूर-संस्थाओं के संगठन पर रोक थी, किन्तु, तो भी मज़दूर-संघों की संख्या और ताक़त बाढ़ पर थी। मज़दूरों के अख़बारों का निकलना बंद कर दिया गया था, लेकिन सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का दैनिक मुखपत्र "लाल झंडा" हर दिन निकल ही जाता। वह गुप्त रूप से छापा जाता, उसकी छपाई की जगह प्रायः बदला करती थी। अपने प्रेस की जब्ती हो जाने पर, अख़बार के संचालक हाथों में रिवाल्वर लिए किसी प्रेस में घुस जाते और गोली के निशाने के भयपर प्रेसवालों से अपने अख़बार छपवा लेते! दिन रात पुलिस और सैनिक पीछे पड़े रहते, किन्तु, भोर होते ही सड़कों पर अख़बार बेचनेवाले बच्चे "लाल झंडा" "ताज़ा अंक" चिल्लाते दिखाई पड़ते।

किन्तु, ज्यों ज्यों, दिन बीतते जाते, क्रान्तिकारियों की कठिनाइयाँ भी बढ़ती जातीं। मास्को के बग़ावत के कुचले जाने के बाद ही प्रतिक्रिया की लहर चारों ओर दौड़ने लगी थी। वार्सा की हड़ताल भी टूट गई। ज़ारशाही पहले धक्के से अब सम्हल चुकी थी। जनता के प्रवाह को देखकर पुलिस के पैर डगमगा गये थे, अब वे पैर जमा रहे थे। उसने भीषण दमन शुरू कर दिया था। उसके इस कार्य में पूँजीवादी अख़बार उसे बढ़ावा देते। सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के ख़िलाफ़ वे जहर उगल रहे थे। हर दिन पार्टी के सदस्यों की गिरफ़्तारियाँ हुआ करतीं। पुलिस घर घर में छापा मारती और जिनपर सन्देह होता, उन्हें सीधे जेल पहुँचाती। उनपर बाजाब्ता मुक़दमे भी नहीं चलाये जाते—बस, "समरी ट्रायल" का बोल बाला था। इस मौक़े पर रोज़ा और उसके साथियों की स्थिति की कल्पना की जा सकती थी। कारख़ानों में सभायें करना, फौजी छावनियों में प्रचार

करना, अखबार, पर्चे और पुस्तिकायें निकालना और संगठन के दर्जनों फुटकल काम करना! इन कामों की भीड़ में भी रोज़ा को अपने दिमाग पर ऐसा क़ाबू था कि सैद्धान्तिक प्रश्नों पर उसी सफ़ाई और आसानी से प्रकाश डालती हुई, मानों, अंधकार में प्रकाशपुंज का काम करती।

भला पोलैंड की पुलिस उसके इस प्रभावशाली अस्तित्व को किस तरह बर्दाश्त कर सकती थी। एक ओर खुफ़िया, पुलिस और सेना जान भिड़ाकर रोज़ा को पकड़ने के लिए परीशान थी; दूसरी ओर रोज़ा भी अपने सभी कामों को करते हुए उन्हें चकमे पर चकमे देती जा रही थी। अजब आंख मिचौनी थी। तीन महीने तक यह आंख मिचौनी चली। कुछ लोगों की राय हुई कि रोज़ा फिर विदेश भाग जाय, किन्तु, इस भाटे के ज़माने में तब तक लड़ते रहना चाहती थी, जबतककि थोड़ी भी आशा की झलक मिलती रहे। किन्तु, ४ मार्च को वह लिओ जोगिचेस के साथ अन्ततः पकड़ ली गई। उस समय दोनों ने अपने नाम बदल दिये थे, इसलिए इनकी पहचान में बड़ी कठिनाई हुई। पर, एक सप्ताह के बाद रोज़ा की एक तस्वीर उसकी बहन के पास पुलिस को मिलगई, जोगिचेस को पहचानने में तो पुलिस को पूरे तीन महीने लग गये।

तथाकथित समाजवादी!

यहाँ, यह भी देख लेना है कि इस क्रान्ति के जमाने में वे तथाकथित समाज-वादी क्या कर रहे थे, जिन्होंने रोज़ा और उसके साथियों को बदनाम करने के लिए अपने देश और उसके बाहर कुछ उठा नहीं रखा था और अब जो पोलिश सोशलिस्ट पार्टी के नाम से काम कर रहे थे, उनके नेता पिल्सुदस्की और डासिंस्की थे। ज्यों ही रूस और जापान की लड़ाई छिड़ी, पिल्सुदस्की दौड़ा दौड़ा जापान-सम्राट की शरण में पहुँचा और उससे धन और अस्त्र की भीख माँगने लगा। इधर डासिंस्की पोलैंड के मज़दूरों से कहने लगा कि वे रूस के मज़दूरों के फेर में नहीं पड़ें—बल्कि इस मौके का उपयोग अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए करें, जिस स्वतंत्रता का मानी था पोलैंड के पूँजीपतियों के हाथों में पोलैंड की जनता के भाग्य को सौंपना।

किन्तु, रूस की इस लहर को यों बातों की दीवाल बनाकर रोका नहीं जा सकता था। १९०५ की जनवरी में ही लोद्ज़, रैडम, सील्डस में हड़तालें हो चुकी

थीं और ख़ूनी रविवार के बाद तो लोद्ज़, विल्ना, कौवनो, बाईलोस्टौक, आदि नगरों के मज़दूरों और सरकारी हुकूमत में हाथियारबंद–मुठभेड़ भी शुरू हो गई थी। इन हड़तालों और संघर्षों में उन्हें ज़बर्दस्ती खिंच आना पड़ा, क्योंकि मज़दूरों के नेतृत्व को वे अपने से चिपकाये रहना चाहते थे। पहले तो वे कहते थे कि रूस से ज़ारशाही का ख़त्म करना ग़ैरमुमकिन बात है, इसलिए, पोलैंड की जनता का पहला काम यह होना चाहिये कि वह ज़ारशाही के चँगुल से अपने को अलग कर ले। अंधी देशभक्ति में पागल हो कर वे रूस के मज़दूरों और किसानों की हालत को उपेक्षा की नज़र से देखते थे। किन्तु, जब वहाँ की जनता ने ग़ज़ब की ताक़त और संगठन शक्ति दिखलाई तब उस प्रवाह में तैरने लगे।

पर, मज़दूरों का उनका नेतृत्व किसी ठोस सिद्धान्त पर क़ायम तो था नहीं। वे मध्यवर्गीय भावुकता के शिकार थे। जब कहा जाता था कि मज़दूरों को अपनी आर्थिक माँगों के आधार पर अपने आन्दोलन और संगठन को दृढ़ करना चाहिये, तब वे चिल्ला उठते थे कि हाय, तुच्छ रोटी-नमक की नीची सतह पर समूचा आन्दोलन उतारा जा रहा है। अब, जब आन्दोलन राजनीतिक ज़ीने पर दनादन ऊँचे बढ़ रहा था, वे उसमें अपनी भावुकता घुसेड़ने को व्याकुल हो उठे। १९०५ के बसंत में उनके अखबार ने लिखा कि अब हमें क्रान्तिकारी सेना प्राप्त हो चुकी, ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि हम उनके हाथ में क्रान्तिकारी हथियार दें। इन हथियारों को विदेशों से ख़रीदकर मँगाने और बड़ी तादाद में बम बनाने पर वे ज़ोर देने लगे। उनकी समझ से ज्योंही पोलैंड की जनता के हाथों में बम और बन्दूकें रख दी गईं कि सफलता मिली।

रोज़ा ने तीन पुस्तिकायें—"क्रान्ति आ पहुँची—हम क्या करें" नाम से लिख कर उनके इन विचारों का खंडन किया। उसने बताया कि ऐसी बातें सिर्फ़ वे ही कह सकते हैं, जिनका जनता से सम्पर्क सिर्फ़ ज़बानी हो। निस्सन्देह राजसत्ता का ख़ात्मा सशस्त्र विद्रोह से ही हो सकता है, किन्तु, इसके लिए हथियार ख़रीदना नहीं, जीतना होगा—सेना से, पुलिस से मुठभेड़ कर उनसे छीनना, शस्त्रागारों पर चढ़ाई कर उन्हें लूटना, आदि। यह काम जनता ख़ुद करेगी।

"पार्टी की कमिटी, प्रतिभाशाली नेता, षड्यंत्रियों का दस्ता—ये चीजें क्रान्ति में निर्णयात्मक शक्ति नहीं होतीं। क्रान्ति का निर्णय इस बात पर होता है कि आम जनता कहाँ तक अपना ख़ून बहाने को तैयार है। ये तथाकथित समाजवादी

भले ही सोचें कि जनता को चाहिये कि उनसे हुक्म ले, उनकी मातहत में फ़ौज़ी तालीम हासिल करे, किन्तु देखा यह गया है कि क्रान्ति के ज़माने में जनता अपनी राह ख़ुद बनाती और उसका साधन ख़ुद जुटाती है।"

जो सच्चा समाजवादी होगा, वह परिस्थिति और उसकी परिमितता को समझेगा और तदनुसार वर्त्तेगा, चलेगा। इसमें शक नहीं कि पुलिस और फौज की नृशंसता का मुक़ाबला करने के लिए मज़दूरों और उनकी टुकड़ियों को हथियारबंद बनना पड़ेगा; किन्तु उनसे यह कहना कि पार्टी तुम्हें काफ़ी हथियार देकर इस योग्य बना देगी कि सरकारी तालीमयाफ़्ता फ़ौज़ का तुम सामना कर सको और उन्हें हराकर अपना राज्य क़ायम कर सको—मज़दूरों को धोखा देना और उन्हें गहरे गर्त की ओर घसीटना है। रोज़ा उन लोगों में नहीं थी, जो मज़दूरों को बिना तैयारी के सड़कों पर खड़ा कर देना और उनकी हज़ारों क़ीमती जानों से खेलवाड़ करना क्रान्तिकारिता का चरम लक्ष्य मानते हैं। तैयारी करो, तैयारी करो–हाथियारबंद बग़ावत की तैयारी करो—यह उसका नारा था, जैसाकि उसने कौट्स्की को लिखा था। किन्तु, इस तैयारी का क्या अर्थ? क्या सिर्फ़ बम बनाना, बन्दूकें इकठ्ठी करना। नहीं—

हमें तो देहातों में घुसना चाहिये और वहाँ किसानों को सिर्फ़ मोहक देशभक्ति का पाठ नहीं पढ़ा कर, उनके सामने अपने आर्थिक और राजनीतिक प्रोग्राम को साफ़–साफ़ रखना चाहिये। मज़दूरों और अर्द्ध मजदूरों की क्या दयनीय स्थिति है, उन्हें क्यों मजदूरों का साथ देना चाहिये, किस तरह मज़दूरों और उनका स्वार्थ एकदूसरे से बँधा हुआ है, उनका कल्याण समूचे रूस से ज़ारशाही को ख़त्म करने में ही है, आदि बातों का ज्ञान देकर उन्हें लड़ाई में शामिल होने के लिये प्रेरित करना चाहिये। समाजवादियों का प्रारम्भिक कार्य सैनिक दस्ते तैयार करना नहीं, बल्कि सेना में घुसकर आन्दोलन करना है। रूस के जो सैनिक पोलैंड में लाकर रखे गये हैं, उनमें बग़ावत की भावना तभी आ सकती है, जब हम उनसे मज़दूरों और किसानों के वर्ग–स्वार्थ के नाम से अपील करें। हमारा आन्दोलन उन में से कुछ को हमारी तरफ़ बिल्कुल खींच लायगा, बाक़ी को हिचकिचाहट में डाल देगा। सेना का अनुशासन टूटने लगेगा। मज़दूरों को भी सशस्त्र करना पड़ेगा, किन्तु, याद रखो, मज़दूरों के पास सबसे बड़ा अस्त्र है आर्थिक और राजनीतिक ज्ञान। रोज़ा ने जैसे गरजते हुए कहा—

"ज़ारशाही को तहस नहस करने और क्रान्ति को सफल बनाने के दो ही रास्ते हैं। मंचूरिया के मैदान में जापान उसकी नींव हिला रहा है। देश में अन्न की कमी हो रही है, अकाल बढ़ रहा है। यूरोप के सर्राफ़े में रूस की साख उठती जा रही है। यह लड़ाई का नतीजा है, जिसपर मज़दूरों का कोई अधिकार नहीं। मज़दूरों की राह दूसरी है—वह है संगठित सामूहिक विद्रोह की। एक ओर उपर्युक्त बातें हो रही हैं, दूसरी ओर मजदूरों की ओर से हो आम हड़ताल—कारख़ाने बन्द हो जायँ, ट्रेनों और गाड़ियों का आनाजाना रुक जाय, व्यापार चौपट होजाय, सेना बग़ावत कर बैठे। इन कामों के सामने बम फेंकना तो मच्छर के काटने के समान तुच्छ है। जिनमें राजनीतिक ज्ञान नहीं है, वे ही आतंकवाद को क्षणिक प्रभाव से ज़्यादा महत्त्व दे सकते हैं।

"ज़ारशाही को सबसे बड़ा ख़तरा है सामूहिक बग़ावत से पैदा होनेवाले उथलपुथल से। यह बग़ावत सिर्फ़ शासन के संगठन को ही चूर चूर नहीं करती, बल्कि साथ ही साथ उन शक्तियों को संगठित करती जाती है, जिन शक्तियों द्वारा ज़ारशाही का नाश और एक नये समाज का निर्माण होना बदा है। समाजवादियों के लिए यही एक रास्ता है। हमारा आन्दोलन किसानों को हमारे साथ ला खड़ा करेगा; फ़ौज के अनुशासन को ढीला कर देगा, जनता को युद्धक्षेत्र की ओर प्रेरित करेगा। यह ऐसी शक्तियों को पैदा करेगा जो सड़कों पर बैरिकेड बनावेंगी, पुलिस और फ़ौज़ से हथियार छीनेंगी, पहले फुटकल विजय, यहाँ वहाँ, प्राप्त करेंगी और अन्त में पूरी जनता को संघर्ष में घसीटकर ज़ारशाही को उठाकर फेंक देंगी।"

रोज़ा इस समय जो कुछ लिख रही थी, वह मार्क्स के १८४८ में लिखी हुई बातों का अनुसरण मात्र कर रही थी। १८४८ में जब हर्वे स्वयंसेवकों की सशस्त्र टुकड़ी बनाकर, संगीनों की नोंक पर, जर्मनी की क्रान्ति को आगे बढ़ाने का प्रोग्राम पेश कर रहा था, मार्क्स ने उसका ज़बर्दस्त विरोध किया था। रोज़ा को हथियारों से चिढ़ नहीं थी, किन्तु, वह मजदूरों पर हथियार लादना नहीं चाहती थी, बल्कि चाहती थी कि उनका अपना अनुभव ही उन्हें उस पथ ले जाय। जब उसने देखा कि मज़दूरों में पूर्ण वर्ग-जागरण और संगठन आगया है और उन्होंने हड़तालों द्वारा काफ़ी अनुभव प्राप्त कर लिया है, तो उसने साफ़ शब्दों में लिखा—

"अब वह समय आ गया है कि मज़दूरों में जो लोग दिमाग़ी और शारीरिक हैसियत से तगड़े हैं, उन्हें सशस्त्र किया जाय, सड़कों पर और गलियों में

लड़ाई की योजना बनाई जाय, मास्को के तजुर्बे से फ़ायदा उठाया जाय। सशस्त्र विद्रोह की सारी टेकनिकल तैयारियाँ होनी चाहियें, किन्तु, हमेशा यह ध्यान में रखते हुए कि विजय सिर्फ़ इन्हीं तैयारियों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि जनता का खुलेदिल से भाग लेना और जान देने को तैयार होना—इन पर ही अन्ततः सब कुछ निर्भर करेगा।"

किन्तु, इन तथा कथित समाजवादियों के दिमाग़ में ये बातें घुस नहीं सकती थीं। उनका जनता में विश्वास नहीं था। वे अपने को, एक मुट्ठी लोगों को, क्रान्ति का ख़ुदाइ सिपहसालार समझे हुए थे। जनता को वे जानवरों की तरह बेवक़ूफ़ और मूक माने हुए थे। जब तक मज़दूरों में क्रान्ति का जोश था, वे चुपचाप उनका साथ देते रहे। किन्तु, ज्योंही भाटे का जमाना आया, उनका रंग खुला। जब दिसम्बर में मास्को के मज़दूरों ने आम हड़ताल की और अपने भाइयों का आह्वान किया, १९०५ के दिसम्बर में डार्शिंस्की ने एक खुली चिट्ठी अपने पत्र में छपवा कर पोलैंड के मज़दूरों को इस हड़ताल से अलग रहने की अपील की। कैसी उसकी दलील थी—"रूस में आम हड़ताल का कोई मतलब भी हो, किन्तु, पोलैंड में उनका नतीजा घातक होगा। वारसा-विल्ना-रेलवे के मज़दूर भला क्यों हड़ताल करें—क्योंकि यह रेलवे लाइन सरकारी नहीं है, बल्कि पोलैंड के पूँजीपतियों की मिलकीयत है।" भला, इससे बढ़कर दिमाग़ी दिवालियापन और क्या हो सकता था? डार्शिंस्की और पिलुदस्की के इन क्रान्ति-विरोधी कारनामों का नतीजा यह हुआ कि जब १९०६ में उनकी पार्टी की कांग्रेस हुई, उसमें दो दल हो गये। उसके बामपक्ष ने रोज़ा के बताये हुए रास्ते पर ही चलने का निश्चय किया। पिल्सुदस्की और उसके साथी पोलिश सोशलिस्ट पार्टी से अलग होकर "पोलिश सोशलिस्ट पार्टी—क्रान्तिकारी विभाग" नाम से काम करना शुरू किया। उनका जनता से सम्पर्क दिनदिन टूटता गया और अन्त में उनका एक मात्र काम रह गया डकैतियाँ करना!

जेल और रिहाई

पुलिस ने रोज़ा को पकड़कर वार्सा के टाउन-हाल के कैदख़ाने में रखा। वहाँ की हालत दयनीय थी। प्रतिक्रिया का दौरदौरा था, पुलिस खुलकर खेल रही थी। दिनरात क्रान्तिकारियों के पीछे पड़ी रहती और उन्हें पकड़पकड़ कर इस टाउन हाल में डाल जाती। रोज़ा ने अपने एक पत्र में उस समय लिखा था—

मैं यहाँ टाउन हाल में रखी गई हूँ । यहाँ राजबंदी, साधारण दाग़ी क़ैदी और पगले सब एक साथ ठूँस दिये गये हैं । मेरे सेल में एक ही आदमी की जगह है, किन्तु, इसमें १४ ' मेहमान ' लाकर रखे गये हैं । संयोग ही समझो कि वे सबके सब राजबंदी ही हैं । हम लोगों के दोनों बग़ल में दो सेल हैं, जिनमें हरमें तीस-तीस क़ैदी कसमस कर रहे हैं । हम सब ज़मीन पर ही सोते हैं, झींगी मछली की तरह एक के ऊपर दूसरे । खुली हवा में कसरत करने की चर्चा भी फ़िज़ूल है । दिन में सेल का दरवाज़ा खुलता है, तब हम बरामदे पर निकलते हैं, जहाँ साधारण रंडियों से हम गपशप करें या खुले पाख़ाने की बदबू का मज़ा चखें । "

रोज़ा का स्वास्थ्य पहले से ही ख़राब था, तीन महीनों की सख्त मेहनत ने उसे और चौपट कर डाला था । उस पर भी यह रहन–सहन । इस रहन–सहन के ख़िलाफ़ उसे अनशन करना पड़ा, जिसके सबब उसकी हालत और ख़राब हो गई । ११ अप्रैल को वह वार्सा के क़िले में भेज दी गई, जहाँ की हालत इससे कुछ अच्छी थी । इस घटना के दस वर्षों के बाद उसने कार्ल लिब्त-क्नेख़्त की स्त्री सोनिया के पास, इस जेल–जीवन के बारे में लिखा था—

" तुमने जेल में जिस तरह कार्ल से भेंट की, उसका संक्षिप्त वर्णन मार्था ने मेरे पास लिख भेजा है । तुमने क्यों नहीं लिखा ? तुम्हारी इस घटना से मुझे अपने जीवन के दस वर्ष पहले की बात याद आ गई । मैं उन दिनों वार्सा के क़िले में क़ैद थी । मेरा भाई मुझसे मिलने आया था । वहाँ पर दुहरे पिंजड़े से क़ैदियों को मुलाक़ात कराई जाती थी । एक बड़े पिंजड़े में एक छोटा पिंजड़ा होता था, उसी में से दुहरे तारों से होकर क़ैदी अपने मुलाक़ातियों से बातें करता । मैंने एक सप्ताह के अनशन को तुरत ही तोड़ा था । इतनी कमज़ोर थी कि वार्डर मुझे उठाकर वहाँ ले गये । मैं दोनों हाथों से तारों को पकड़ कर मुश्किल से उस पिंजड़े में खड़ी हो सकी । उस समय मेरी स्थिति चिड़ियाघर के जंगली जानवर की थी । मेरा यह पिंजड़ा कमरे के एक अंधेरे कोने में रखा गया था । मेरा भाई तारों की जाली के नज़दीक मुँह ले जाकर पुकार रहा था–' तुम कहां हो ? " मैं देख रही थी, उसकी आंखों में आंसू थे, वह बार बार अपना चश्मा पोंछ रहा था । "

इससे भी कड़वे अनुभव वहाँ रोज़ा को हो रहे थे । आये दिन ऐसा होता कि क़ैदख़ाने के सहन में फांसी की टिकटी खड़ी की जाती, चारों ओर निस्तब्धता फैल जाती, फिर कोई क़ैदी वहाँ लाया जाता, उसकी इस अन्तिम

यात्रा पर दूसरे सेलों से मृत्यु-गीत की करुणा धारा फूट पड़ती ! कभी कभी क्रान्तिकारी क़ैदियों की आँखें मूँद कर उन्हें उनके सेल से निकाला जाता, जहाँ वे फिर लौटाकर नहीं लाये जाते। बिना किसी क़ानूनी कार्रवाई या सज़ा के उनकी ज़िन्दगी ख़तम कर दी जाती। एक बार रोज़ा को भी इस तक़दीर का सामना करना पड़ा। उसकी आँखें मूँद दी गईं, उसे सेल से बाहर ले जाया गया, किन्तु, सौभाग्यवश यह एक इम्तहान ही साबित हुआ। या तो ऐसा ग़लती से किया गया था या दिमाग़ी क्रूरता से प्रेरित होकर। जब रोज़ा से पूछा गया, तुम्हें उस समय कैसा लग रहा था, तो उसने जवाब दिया-" मुझे इस बात की शरम है कि मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं पीली पड़ती जा रही हूँ ! "

जेल में वह प्रायः बीमार रहती थी और उसके बाल पकने लगे थे। किन्तु, उस समय जो ख़त उसने लिखे, उनसे उसकी ज़िन्दादिली झलकती है। उसका शरीर दिन-दिन छीजता जा रहा था, मालूम होता था कि वह किसी समय भी सदा के लिए बिछावन पकड़ लेगी, तो भी, उसकी आत्मा में वही पुराना उत्साह था, वही आदर्श-प्रवणता और उन्हें तिर्भीकता थी। वह जेलके अधिकारियों से प्रायः ही लड़ बैठती और उन्हें झुकाकर ही प्रफुल्लित होती। भेंट में दिक़्क़तें थीं, वार्डर बोलचाल करने से डरते थे, क़िले की मोटी दीवारों के अन्दर और कितनी दीवारें थीं। यों बाहर से सम्पर्क नहीं हो, इसके लिए अधिकारियों ने कुछ उठा नहीं रखा था। तोभी, रोज़ा बाहर से पूर्ण सम्पर्क बनाये हुए थी। अपनी पार्टी की कार्यवाहियों की ही ख़बरें उसे प्रायः नहीं मिला करतीं, बल्कि वह सलाह और आदेश भी भेजा करती थी। रूस के समाजवादी और मज़दूर हल्के की ख़बरें भी उसे मिलती रहती थीं। उन ख़बरों को सुनकर वह कहती—

" उफ़, कैसा गोलमाल; निर्णय और शक्तिका कैसा अभाव ? किसी तरह मैं बाहर होऊँ—बाहर होऊँ और उन्हें जगाऊँ—भले ही इसके लिए उनके सर पर मुझे डंडे मारने पड़ें। "

न सिर्फ़ ख़बरें पाती और सलाह भेजती, बल्कि क़िले में पहुँचने के चार सप्ताह के बाद ही उसने बाहर ख़बर भेजी कि उसने तीन पैम्फलेट तैयार कर लिए हैं और बाद में उन्हें बाहर भेज भी दिया। पार्टी के अख़बार के लिए वह बराबर लेख भी भेजा करती थी। और, यह सारा लिखने पढ़ने का काम वह रात के ९ बजे से २ बजे तक करती, जब कि सब सो जाते। यों, उसे अपने सोने के समय को भी क़ुर्बान कर देना पड़ता।

इधर उसके सम्बन्धी उसकी रिहाई के लिए कोशिश पर कोशिश कर रहे थे। वे लोग जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के सम्पर्क में आये और चाहा कि पार्टी जर्मन–सरकार के द्वारा रूस–सरकार पर रोज़ा की रिहाई के लिए दबाव डलवाये, क्योंकि रोज़ा जर्मन की प्रजा बन चुकी थी। जब रोज़ा को यह ख़बर मालूम हुई, तो उसने इसके विरोध में आवाज़ उठाई। वह नहीं चाहती थी कि जर्मन–सरकार का थोड़ासा भी अहसान वह अपने ऊपर ले। लेकिन इसमें शक नहीं कि वार्सा के सरकारी वकील को इस बात को लेकर परेशानी हो रही थी कि रोज़ा जब जर्मन–प्रजा बन चुकी है, तो उसपर रूसी क़ानून किस तरह लागू किया जा सकेगा? आख़िर उन लोगों ने चालाकी की। रोज़ा की क़ानूनी शादी तो लुबके से सिद्ध थी, किन्तु, यह शादी चर्च में नहीं हुई थी, इसलिए रूस में उसकी क़ीमत नहीं हो सकती थी। इसका मतलब यह कि रोज़ा जर्मनी में जर्मन–प्रजा है, किन्तु रूस में रूसी प्रजा। जब सरकारी वकील इस तरह की क़ानूनी दाव पेंच में लगा हुआ था, रोज़ा की तबियत दिन दिन ख़राब होती गई और डाक्टरों के एक कमीशन ने उसकी जांच करके रिपोर्ट दी–" रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग को रक्त की कमी, वायुगुल्म और स्नायु दुर्बलता की बीमारी है, उसके पेट और अँतड़ी में ठंढ लग गई है और उसकी प्लीहा भी बढ़ गई है। जल-चिकित्सा और स्नान-चिकित्सा उसके लिए ज़रूरी हैं, साथ ही उसके भोजन पर भी काफ़ी निगरानी रखनी पड़ेगी।" इस रिपोर्ट के बाद २८ जून को वह जेल से ३००० रूबल की ज़मानत पर रिहा की गई और उसे वार्सा की सीमा के अन्दर ही रहने का हुक्म हुआ। थोड़े दिनों के बाद डाक्डरों ने रिपोर्ट दी कि उसे कहीं विदेश के स्नानगृह में जाकर स्नान चिकित्सा करना चाहिये और ३१ जुलाई को उसे वार्सा छोड़ने का हुक्म मिल गया।

यद्यपि सरकारी काग़ज़ातों। में रोज़ा की रिहाई का यही कारण लिखा गया था, लेकिन बातें कुछ दूसरी भी थीं। क्रान्ति के चलते पुलिस में अनैतिकता आ गई थी। कुछ बड़े अफ़सरों को घूस दिया गया और रोज़ा की पार्टी के "युद्ध–विभाग" ने खुफ़ियावालों को धमकी दी कि अगर रोज़ा की ज़िन्दगी पर ख़तरा आया, तो इसका पूरा बदला चुकाया जायगा।

वार्सा से पहले वह पिटर्सबर्ग गई, जहाँ एक्जेल्रौड से उसकी भेंट हुई। उससे रोज़ा ने क्रान्ति के बारे में गरमागरम बहस की। बाद वह फिनलैंड में एक महीना रही, जहाँ से ज़ारशाही के सुप्रसिद्ध नारकीय जेल–" पिटरपाल जेल "–में उसने पार्वस और लिओ डूरा से मुलाक़ातें कीं जो वहाँसे साइबेरिया भेजे जा रहे थे।

फिनलैंड में रहते हुए उसने "आम हड़ताल, पार्टी और मजदूर संघ" नामकी पुस्तिका लिखी। अब वह जर्मनी जाने के लिए छटपट करने लगी। किन्तु, जर्मनी जाने में एक बड़ी रुकावट थी उसका जेना-कांग्रेसवाला व्याख्यान-जिसके लिए वहां की पुलिस ने उसपर मुक़दमा चलाने का इन्तज़ाम ठीक कर रखा था। उसे यह भी मालूम हुआ कि जर्मनी और रूस की पुलिस में यह तय हो चुका है कि जर्मनी की धारासभा की बैठक के पहले ही वह गिरफ़्तार करके जर्मनी भेज दी जायगी। रोज़ा रूसी पुलिस के घेरे में जर्मनी नहीं पहुँचना चाहती थी। सितम्बर में जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की कांग्रेस मैनहिल में हो रही थी। वह सीधे उस काँग्रेस में पहुँची। उसके बाद उसे स्वास्थ्य-सुधार के लिए थोड़ा समय मिल गया।

लिओ जोगिचेस अबतक वार्सा के ही क़िले में क़ैद था। एक बार उसे भी जमानत पर छोड़ने की बात हुई, किन्तु, पुलिस अन्तमें मुकर गई। इसके बदले नवम्बर में घोषित किया गया कि सरकार के पास ऐसे सबूत मिल गये हैं, जिनके आधार पर वह रोज़ा और लिओ पर एक सैनिक अदालत में मुक़दमा चलाने जा रही है, क्योंकि इन दोनों ने सशस्त्र विद्रोह द्वारा रूस की सरकार को उलटने और पोलैंड को आज़ाद करने का जुर्म किया है।

रोज़ा ने इस फ़ौज़ी अदालत के सामने हाज़िर होने से इन्कार कर दिया। १९०७ की जनवरी में लिओ पर अकेले मुक़ादमा चला। मुक़दमा खुलते ही एक ऐसी घटना हो गई, जिसने इस मुक़द्मे के बारे में लिओ के रुख़ का निर्णय कर दिया। अदालत के सदर ने लिओ को 'तू' कह कर सम्बोधित किया, क्योंकि सरकारी काग़ज़ों में उसे निम्न मध्यवर्ग का माना गया था। इस अपमान के विरुद्ध लिओ और उसके वकील ने आवाज़ उठाई। किन्तु, अदालत अपनी बात पर अड़ी रही। इस पर लिओ ने अदालत के कामों में हिस्सा लेने से इन्कार कर दिया और जबतक तीन दिनों तक मुक़दमे का स्वांग चलता रहा, वह चुपचाप देखता रहा। भीषण षड्यंत्र के अभियोग में उसे आठ वर्षों की सख्त सज़ा दी गई। अगर रोज़ा रहती, तो उसे भी यही सज़ा मिली होती, जो निस्सन्देह ही उसकी मौत बन जाती। किन्तु, क्या जोगिचेस ने यह सज़ा भुगती? अप्रैल में वह रूस के कालेपानी साइबेरिया भेजा जा रहा था। हैनेकी की सहायता से वह हवालात से ग़ायब हो गया। जोगिचेस ने एक पुलिस को भी मिला लिया था। जोगिचेस का यह पलायन उसके चरित के ही अनुसार अनोखा और अपूर्व था।

क्रांन्ति की आलोचना

रोज़ा ने १९०५ की इस क्रांति के पहले वर्ष की घटनाओं का जो लेखा जोखा तैयार किया था, उससे वह भविष्य के लिए निराश नहीं हुई थी। उसने उम्मीद की थी कि मज़दूरों की क्रियाशीलता और बढ़ेगी, ज़ारशाही की मुल्की और फ़ौज़ी ताक़त में घुन लगता जायगा, शहरों और गाँवों में बग़ावत की भावना बढ़ती जायगी और अन्त में जनता की विद्रोही प्रवृत्ति ऐसे भीषण रूप में जगेगी कि अनियंत्रित शासन का अन्त होकर रहेगा। १९०६ की घटनाओं ने उसकी उम्मीद को पुष्ट किया। प्रदर्शन, हड़ताल, किसानों के विद्रोह, फ़ौज़ी बग़ावत—बार बार ये सब होते रहे, जिससे मालूम होता था, अभी क्रांति की आग बुझी नहीं है। लेकिन धीरे धीरे सरकारी आतंकवाद का दौरदौरा हुआ–जनता पर सरे आम गोलियाँ चलाई जातीं; फ़ौज़ी दस्ते गाँवों और गलियों में गश्त लगाते और जिसे पाते पीटते, मारते; फ़ौज़ी अदालतों या ख़ास आदलतों में 'समरी ट्रायल' होते और दनादन लोगों को फाँसी की टिकटियों पर चढ़ा दिया जाता; झुंड के झुंड लोग सायबेरिया के कालेपानी में भेजे जाते। मज़दूरों ने क्रांति के हुजूम में जो प्राप्त किया था, उनसे धीरे धीरे छिनता गया। पहले जहाँ मज़दूरों की आम हड़तालें होतीं, वहाँ अब मालिक ही कारख़ाने बन्द कर मज़दूरों को भूखों मारने की कोशिशें करते।

दिसम्बर में मास्को के नेतृत्व में जो आम हड़ताल और बग़ावत हुई थी, वह इस क्रांति की सबसे आख़िरी कड़ी थी। उसके बाद ही पतन के लक्षण दीख पड़ने लगे। जनता में अब भी क्रांतिकारी सक्रियता थी, किन्तु, उसमें अब आगे बढ़कर ख़ुद निर्णय लेने की ताक़त नहीं रह गई थी। क्रांति का स्थान धीरे धीरे विधान वाद ले रहा था। ज़ार ने सुधार दिये थे, उसके अनुसार हुए चुनाव में उदारदली 'कैडेट' लोगों को बड़ी सफलता मिली थी और अब दक्षिणपक्ष के समाजवादी भी विधानवाद की तरफ़ झुकने लगे थे। रोज़ा ने भविष्यवाणी की थी कि 'डूमा' से ज़ारशाही का कुछ नहीं बिगड़ेगा, अगर बिगड़ने की सम्भावना होगी तो 'डूमा' की जगह कोज़ाक सेना लेगी। ठीक यही बात हुई। डूमा क्रान्ति की हार का प्रतीक सिद्ध हुई। जुलाई १९०६ में डूमा को ज़ार ने भंग कर दिया और मार्च १९०७ तक विना डूमा के ही राज्य किया। दूसरी डूमा को जून में बर्ख़ास्त किया और उसकी जगह पर तीसरी डूमा का जो चुनाव उसने कराया, उसमें वोट का अधिकार

ऐसा परिमित था कि सिर्फ़ सरकारपरस्त लोग ही उसमें पहुँच सके। क्रान्ति की हार और प्रतिक्रिया की जीत स्पष्ट हो गई।

यह क्रान्ति क्यों असफल हुई, इस पर रोज़ा ने अपनी एक पुस्तिका में इस तरह लिखा।

"१९०५–६ की रूसी क्रान्ति ने जैसी क्रान्तिकारी शक्ति, स्पष्ट दृष्टि और तत्परता एवं दृढ़ता दिखलाई, उसका उदाहरण मिलना मुश्किल है। तो भी क्रान्ति क्यों असफल हुई? उसके दो कारण हैं! पहला कारण तो इस क्रान्ति के रूप में ही निहित था। इसके सामने जो विशाल ऐतिहासिक कार्यक्रम था और इसने जिन बड़े बड़े आर्थिक और राजनीतिक सवालों को पैदा किया, उनका हल करना इसके बूते के बाहर था। भला, वर्तमान सामाजिक संगठन के अन्दर वह किसानों के सवाल का क्या हल दे सकती थी? फिर पूँजीवादियों की मुख़ालफ़त के अन्दर उन्हीं पूँजीवादियों का वर्ग-राज्य क़ायम करना क्या आसान काम था? क्रान्ति असफल हुई क्योंकि, यह मज़दूरों की क्रान्ति थी, किन्तु, उसे पूँजीवादियों का काम करना था। या यों कहिये कि यह एक पूँजीवादी क्रान्ति थी, किन्तु इसके लड़ाई के तरीक़े मज़दूरों और समाजवादियों के थे। दों युगों का समन्वय यह करने चली थी। १९०६ की हार क्रान्ति का दिवालियापन नहीं साबित करती, बल्कि यह बताती है कि एक अध्याय ख़तम हो गया, और अब दूसरा अध्याय शुरू होनेवाला है। क्रान्ति के हार का दूसरा कारण बाहरी था।—यूरोप की दूसरी प्रतिक्रियावादी सरकारें अपने रूसी भाईबंदों की सहायता में दौड़ीं, किन्तु, दूसरे देश के मज़दूर चुपचाप अलग से तमाशा देखते रहे।"

क्रान्ति की इस असफलता ने रूस के समाजवादी आन्दोलन में अजीब गोलमाल पैदा कर दिया। पोलैंड में भी इसकी प्रतिक्रिया की छाप कम नहीं पड़ी। ग़ैरक़ानूनी ढंग से ही अब मज़दूरों का काम हो सकता था। इसमें पार्टी के सदस्यों की तादाद कम हो गई। हार ने मज़दूरों के हृदयों में राजनीतिक कार्यों से उदासीनता पैदा कर दी। जो पढ़े-लिखे लोग समाजवादी आन्दोलन की रीढ़ थे, वे राजनीतिक क्षेत्र छोड़कर धीरे धीरे बिलकुल हट गये। समाजवादियों में तरह तरह के मतमतान्तर चले। बौल्शेविकों का एक गिरोह अब गुह्य दर्शन और रहस्यवाद की ओर मुड़ा। ऐसे सिद्धान्त पेश किये जाने लगे, जिनका कार्य में लाना सिर्फ़ क्षणिक बहादुरी मात्र होता। डूमा के बॉयकॉट की भी बातें की जाने लगीं। मैन्शेविकों ने इस क्रान्ति में हिस्सा नहीं लिया था। उनके सिद्धान्त

काम की कसौटी पर जांचे नहीं जा सकते। वे कहने लगे, क्रान्ति सदा के लिये कुचल दी गई, अब समाजवादियों का काम है कि नई परिस्थिति को देखकर ही काम करें। उनमें से कुछ लोग ग़ैरक़ानूनी कामों को बिल्कुल बंद करने पर ज़ोर देने लगे, जिसका मतलब था, पार्टी को ही भंग कर देना। उन पर पराजयवाद अपने पूरे ओज से सवार था।

मैन्शैविकों के एक नेता चेरवानिन ने दो भागों में इस क्रान्ति पर ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने बताया कि क्रान्ति की असफलता इसलिए हुई कि क्रान्ति के पूँजीवादी स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया गया। पूँजी पर इस तरह धावा किया गया कि पूँजीवादी भागकर प्रतिक्रिया की गोद में जा गिरे और क्रान्ति उनके बिना असफल हो गई। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि इस समय मज़दूरवर्ग का कोई कार्यक्रम नहीं सोचा जा सकता—बस रुको और राह देखो।

इसी तरह ट्रौट्स्की ने अपनी ‘स्थायी क्रान्ति’ का सिद्धान्त पेश करना शुरू किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यद्यपि १९०५ की क्रान्ति का उद्देश्य पूँजीवादी प्रजातंत्र क़ायम करना था, किन्तु, क्रान्ति अपने को सिर्फ़ उसी में सीमित नहीं रख सकती थी। क्रान्ति अपने इसमें तभी सफल हो सकती थी, जब अपने हाथ में वह हुकूमत की बागडोर छीन कर ले सकती। ज्यों ही मज़दूरों के हाथ में हुकूमत आती, वह सिर्फ़ पूँजीवादी प्रजातंत्र क़ायम करके ही सन्तुष्ट नहीं होती। पहले वह सामंतशाही की सम्पत्ति पर हाथ डालती, फिर पूँजीवादी सम्पत्ति पर। इसके बाद बड़े किसानों से भी मुठभेड़ होती ही। उस हालत में उसका संघर्ष न सिर्फ़ पूँजीवादी से होता, बल्कि किसानों से भी। यों, एक पिछड़े देश के मज़दूरों की सरकार के साथ इतनी असंगतियाँ पैदा हो जाती हैं, जिनका एक ही देश में हल करना सम्भव नहीं। वे अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर ही हल की जा सकेंगी। इस तरह ऐतिहासिक ज़रूरतों से प्रेरित होकर रूसी क्रान्ति को सिर्फ़ पूँजीवादी प्रजातंत्र की सीमा तक ही अपने को आवद्ध नहीं रखना पड़ेगा, बल्कि रूसी क्रान्ति को विश्वक्रान्ति की भूमिका बनाना पड़ेगा। रूसी क्रान्ति तभी सफल हो सकेगी, जब संसार भर में क्रान्ति हो।

लेनिन इस क्रान्ति का विश्लेषण करते हुए इस नतीजे पर पहुँचा कि रूसी क्रान्ति की सफलता के लिए ज़रूरी यह है कि मज़दूरों के साथ किसानों का दृढ़ गठबंधन हो। “मज़दूरों और किसानों के जनतंत्रात्मक एकाधिकार” पर ही वह ज़ोर देता रहा।

रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने इस क्रान्ति का विशद विश्लेषण कई लेखों और पुस्तिकाओं में किया। रोज़ा के विचार से उसकी असफलता क्यों हुई, इसका उल्लेख पीछे हो चुका है। रोज़ा ने मैन्शेविकों के विचारों का ज़बर्दस्त खंडन किया। १९०७ में जब लन्दन में रूसी सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की कांग्रेस हुई (रोज़ा के प्रयत्न से पोलैंड की डिमोक्रैटिक पार्टी उससे सम्बद्ध हो चुकी थी) उसने दो मार्के के व्याख्यानों में मैन्शेविकों के तर्कों की धज्जियां उड़ा दीं। किन्तु, रोज़ा किसानों के बारे में लेनिन से कुछ भिन्न मत रखती थी। यद्यपि वह मानती थी कि किसानों के सवाल को हल करने की योग्यता पर ही रूसी क्रान्ति की सफलता निर्भर करती है और मज़दूरों द्वारा हुकूमत पर क़ब्ज़ा किये जाने में किसानों की सहायता बहुत ही महत्त्व रखती है, तो भी वह समझती थी कि हुकूमत पर क़ब्ज़ा हो जाने पर जो उसका रूप होगा, उसमें किसानों और मज़दूरों की एक स्थिति रहने से आगे चलकर झंझटें खड़ी होंगी। इसलिए वह "मज़दूरों और किसानों के लोकतंत्रात्मक एकाधिकार" के बदले "किसानों के आधार पर मज़दूरों के लोकतंत्रात्मक एकाधिकार", इस नाम पर ज़ोर देती थी। मज़दूरों और किसानों को एक स्थिति में रखने से क्रांति के बाद ही नहीं, पहले भी, एक संगठनात्मक प्रश्न उठता है। जब दोनों की स्थिति हुकूमत में एक होनेवाली है, तो क्यों नहीं मज़दूरों और किसानों की संयुक्त पार्टी बनाई जाय? किन्तु, ऐसा करना मार्क्सवाद की बुनियाद को ही भूल जाना है—इसलिए, शुरू से ही इस पर स्पष्ट हो जाना वह उचित समझती थी।

लेनिन से इस मतभेद के बावजूद रोज़ा यह मानती थी कि बोल्शेविक लकीर पीटनेवाले नहीं हैं और स्वयं अनुभव उन्हें सही रास्ते पर ले जायगा। इतिहास ने इसको सही सिद्ध किया।

:५: नई हालत, नया हथियार

निराशा का वातावरण

रोज़ा जर्मनी पहुँची थी, उत्साह लेकर। वह काम करना चाहती थी। रूसी क्रान्ति को लेकर जो विवाद छिड़ा था, उसमें शामिल होना चाहती थी। इस क्रान्ति का जो व्यक्तिगत अनुभव उसने प्राप्त किया था, उसे जर्मनी के सुसंगठित मज़दूरों के सामने रखकर उन्हें वह विस्मय विमुग्ध करना जाहती थी। किन्तु, उसके उत्साह पर तुरत ही पाला पड़ गया। उसके हाथों में जर्मन सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के, मुखपत्र "वोरवार्ट" (अग्रसर) का जो अंक मिला, उसे देखते ही उसका कलेजा बैठ गया। इस पत्र के सम्पादकीय विभाग में वह वामपक्षी लोगों को देख आई थी। उसने आशा की थी, रूस की क्रान्ति का इनलोगों ने समर्थन किया होगा, उससे अच्छा सबक़ लिया होगा। किन्तु, उस अंक में ऐसी कोई बात नहीं थी। फिर, जब मैनहीम की पार्टी-काँग्रेस में वह पहुँची, वहाँका दृश्य देखकर वह स्तंभित रह गई!

रूस की क्रान्ति के लिये शुरू में जो थोड़ा उत्साह नजर आया था, वह ख़त्म हो चुका था। पार्टी के नेताओं पर पराजयवाद का गाढ़ा असर पड़ चुका था। मज़दूरों को दिखाने के लिये रूसी क्रान्ति की सालगिरह तो मना ली गई, किन्तु, उस सालगिरह में ज़्यादा मर्सिया ही पढ़ा गया—उसमें क्रान्तिकारी भावनाओं और विचारों का सर्वथा अभाव देखा गया। फरवरी १९०९ में, पार्टी की सेन्ट्रल कमिटी ने मजदूर-नेताओं के साथ जेना-काँग्रेस में पास हुए आम हड़ताल वाले प्रस्ताव पर विचार किया और गुपचुप इस निर्णय पर पहुँचे कि इस अधमुर्दा प्रस्ताव को भी ज़िन्दा दफ़ना दिया जाय! मैनहीम-काँग्रेस में बेवेल ने यहाँ तक कह डाला कि रूस की क्रान्ति की विजय होने पर, उनके ख़िलाफ़ अगर क़ैसर ने जर्मन फ़ौज़ भेजना तय किया, तो जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी कुछ नहीं बोलेगी। इस व्याख्यान के बाद रोज़ा समझ गई कि उसका इन नेताओं से जो मतभेद है, वह क्षणिक और ब्योरे की बातों में नहीं है, बल्कि मौलिक सिद्धान्त में है। उसने १९०७ के शुरू में क्लारा ज़ेटकिन को एक पत्र में लिखा—

"रूस से लौटने के बाद मैं अपने को बिल्कुल अकेली समझने लगी हूँ। पार्टी

के नेताओं का छुटपना और हिचकिचाहट और भी साफ़ हो चली है। किन्तु, तुम्हारी तरह मैं उत्तेजित नहीं हुई हूँ। मैं समझती हूँ कि जब तक परिस्थिति नहीं बदलती, जनता और चीज़ों को नहीं बदला जा सकता! अगर हमें जनता का नेतृत्व करना है, तो ऐसे लोगों से हमारा संघर्ष अनिवार्य है, यह समझ कर आगे बढ़ना होगा। यह बात साफ़ है कि बेवेल और उनके साथियों ने विधानवादी कार्यक्रम और धारासभाओं से अपने को इस तरह बाँध लिया है कि जब कहीं उस सीमा के अतिक्रमण की बात उठती है, वे घबरा जाते हैं। सिर्फ़ घबरा ही नहीं जाते, बल्कि उस धारा को फिर विधानवाद की ओर मोड़ना चाहते हैं और जो कोई उस सीमा से आगे बढ़ने की हिम्मत करता है, उसे 'जनता के शत्रु' की उपाधि दे डालते हैं। मेरा ख्याल है कि जनता और पार्टी के सदस्य विधानवाद और धारा सभाओं से ऊब उठे हैं, किन्तु, पार्टी के नेता के पद पर बैठे हुए अवसरवादी सम्पादक, धारासभाओं के सदस्य, मज़दूर संस्थाओं के अधिकारी उनके सिर पर बैठे हुए उन्हें उभड़ने नहीं देते। हमें उनके ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त आवाज़ उठाना है और जनता और पार्टी को सही रास्ता बताना है। ऐसी चेष्टा होने पर वे सब के सब हम पर टूट पड़ेंगे, किन्तु, इससे डरना नहीं है। हमें हमेशा याद रखना यह है कि उत्तेजना में हम अपने दिमाग़ का समतुलन नहीं खो दें। हमारा काम वर्षों का है।"

लेकिन इन नेताओं के बावजूद पार्टी के सदस्यों में उग्रवादिता काम कर रही है, इसका पता भी उसे जेना-कॉंग्रेस में मिला था। जहाँ कहीं सार्वजनिक सभाओं में वह रूस की क्रान्ति पर बोलती, वह मजदूरों, कार्यकर्ताओं, और आम जनता को क्रान्तिकारी आवेशों से ओत प्रोत पाती। आस्ट्रिया में तो रूसी क्रान्ति ने इतना असर पैदा कर दिया था कि वहाँ के मज़दूर नेता एडलर चाहकर भी वहाँ के मज़दूरों को आगे बढ़ने से नहीं रोक सका और १९०६ में उन्होंने बालिग़ मताधिकार के रूपमें पहली राजनीतिक विजय हासिल की। रोज़ा यह मानती थी कि रूस की यह क्रान्ति फ़िज़ूल नहीं जा सकती। यूरोप के मज़दूरों पर इसने काफ़ी असर डाला है। वे एक-न-एक दिन फिर उभड़ेंगे ही। अतः सोचना यह है कि अगले उभाड़ में उन्हें सफलता मिले, इसके लिये उन्हें कौन-सा रास्ता अख़्तियार करना चाहिये।

आम हड़ताल : नया हथियार

रूस की १९०५ की क्रान्ति पहले की क्रान्तियों से एक बात में सर्वथा भिन्न थी,—इस क्रान्ति में सबसे पहले मज़दूरों के एकमात्र अस्त्र हड़ताल का उपयोग

राजनीतिक कार्य के लिये किया गया था। लाखों मज़दूरों ने खानों, कारख़ानों रेल्वे आदि में हड़ताल करके थोड़े दिनों के लिये सरकार को पंगु बना डाला था, पूँजीवादी समाज की नींव हिला डाली थी। ये हड़तालें मज़दूरी बढ़ाने या रहन सहन में तरक्क़ी करने के उद्देश्य से नहीं की गई थीं, इनका एकमात्र उद्देश्य था सरकार को लाचार कर उससे ताक़त छीन लेना। रोज़ा आम हड़ताल की हिमायत पहले भी करती थी, इसबार उसने क्रान्ति में सफल होने के लिये मज़दूरों के ख़ास हथियार के रूप में हड़ताल की महत्ता महसूस और क़बूल की।

आम हड़ताल का ख़याल कोई नया नहीं है। इँग्लैंड में जो चार्टिस्ट आन्दोलन बालिग़ मताधिकार के लिए हुआ था, उसके कुछ नेताओं ने सरकार को मज़बूर करने के लिए इस अस्त्र के उपयोग करने पर ज़ोर दिया था। १८६२ में पहली इन्टरनेशनल की जो काँग्रेस हुई थी, उसमें युद्ध रोकने के लिये आम हड़ताल करने की घोषणा की गई थी। अराजकतावादी बैकुनिन के अनुयायियों ने १८७३ में अपनी जेनेवा की काँग्रेस में आम हड़ताल का उपयोग पूँजीवादियों को भूखों मारने और उन्हें झुकाने के लिये आवश्यक समझा था। उनका कहना था कि यदि दस दिनों तक सब काम रोक दिये जायँ, तो बर्तमान समाज का सारा शिराजा बिखर जाय। फ्रान्स के सेन्डिकेलिस्टों ने हड़ताल को मज़दूरों का एकमात्र अस्त्र समझा था। वे कहते थे, क्रान्तिवादियों के 'बैरिकेड की लड़ाई' और वैधानिकों की धारा सभाओं की व्याख्यानबाज़ी मज़दूरों के लिये उपयुक्त नहीं–हड़ताल करके वे सिर्फ़ हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायँ, फिर विजय तो उन्हें मिलेगी ही!

आम हड़तालें कितने रूपों में भिन्नभिन्न देशों में की गईं। १८९१ और ९३ में बेलजियम में आम हड़तालें हुईं; जिनमें क्रमशः सवा लाख और अढ़ाई लाख मज़दूर शामिल हुए। ये हड़तालें मज़दूरों को वोट देने का अधिकार मिलने के लिए की गईं थीं और इनमें बहुत अंशों में सफलता भी मिली–मज़दूरों के लिए धारासभाओं का दरवाज़ा खुल गया। १९०२ में बेलजियम की लेबर पार्टी ने आम हड़ताल कराई, जिसमें साढ़े तीन लाख मज़दूर शामिल हुए। किन्तु, उदारदली लोगों की धोखेबाज़ी के चलते इतनी बड़ी असफल हड़ताल हुई। इसी साल स्वीडन में बालिग़ मताधिकार के लिये विशाल प्रदर्शन–हड़ताल हुई। फ्रांस में १,६०,००० खान में काम करनेवाले मज़दूरों ने हड़ताल की, दूसरे मज़दूरों ने भी उनका साथ दिया। १९०३ में हालैंड के रेलवे में आम हड़ताल हुई, जिसका उद्देश्य

राजनीतिक था। १९०४ में इटली में हड़ताल की एक ज़ोरदार लहर चली और सड़कों पर मुठभेड़ें भी हुईं। यों, आम हड़ताल कोई नई चीज़ नहीं थी, किन्तु, १९०५ की रूसी क्रान्तिने ही उसका पूरा महत्व प्रगट किया।

लेकिन, यह कितने आश्चर्य की बात है कि यूरोप के दो प्रधान पूँजीवादी देशों—इँग्लैंड और जर्मनी—के मज़दूर-नेता आम हड़ताल की ओर बड़ी ही ठंढी निगाह से देखते थे। चार्टिस्ट आन्दोलन के साथ ही आम हड़ताल इँग्लैंड में दफ़ना दी गई, ऐसा मालूम होता था। जर्मनी में तो "आम हड़ताल" का नाम "आम खुराफ़ात" पड़ गया था। और तमाशा यह कि इस बारे में भी ऐंगेल्स को ही घसीटा जाता था। १८१३ में बैकुनिन के दल को आम हड़ताल के बारे में जवाब देते हुए ऐंगेल्स ने यह आशंका प्रगट की थी कि इसके लिये जैसा संगठन और जितना धन चाहिये उतना सरकार होने नहीं देगी और अगर उतना हो गया, फिर हड़ताल के बिना भी सरकार को झुकाया जा सकेगा! जब १९०२ में बेलजियम की हड़ताल असफल हुई, तो ब्रन्स्टीन और उसके साथियों ने ऐंगेल्स की दुहाई देना और उस आम हड़ताल को "अराजकतावादियों की आख़िरी दुलत्ती" कहकर मज़दूरों को उससे अलग रहने को कहना आरंभ किया। रोज़ा ऐंगेल्स की दुहाई से ही कांप उठने वाली नहीं थी। उसने कहा कि ऐंगेल्स ने जो कुछ कहा था, एक खास परिस्थिति में। अराजकतावादी दिन-ब-दिन के मज़दूरों के राजनीतिक संघर्ष की उपेक्षा कर आम हड़ताल के ही नारे लगाया करते थे, इसी से ऐंगेल्स ने उनका विरोध किया था। रह गई बेलजियम के मज़दूरों की असफलता, तो उसका कारण उन नेताओं की बुज़दिली है जिन्होंने मज़दूरों को क़ानूनी दायरे में रखने के लिये हड़तालियों की सभायें और प्रदर्शन करना भी बंद कर दिया था। यों वह हड़ताल शुरू में ही नपुंसक बना दी गई थी—

"आम हड़ताल को सख्त क़ानूनी पाबंदियों में रखना वैसा ही है, जैसे खाली बंदूक़ लेकर फ़ौज़ी प्रदर्शन करना। अपने हाथ जेबों में रखे रहो—उन्हें ज़रा हिलाओ—डुलाओ नहीं, भला इस नारे के बाद कौन उस पर ध्यान देने जायगा? १८९१–९३ की हड़तालें इसलिए सफल हुईं कि बेलजियम की सरकार को विश्वास हो गया था कि यदि उसकी मांगें क़बूल की गईं, तो यह हलचल क्रान्तिकारी रूप लेगी। इस बार भी बिना खून खराबी के ही हड़ताल सफल हो जाती, यदि उसके नेता पहले से ही अपने कारतूसों को नहीं निकाल फेंके होते, फ़ौज़ी प्रदर्शन को

धार्मिक जलूस नहीं बना दिये होते और आम हड़ताल की गगनभेदी हुंकार को आरज़ू-मिन्नत की में-में में परिणत कर दिये होते!"

नेताओं द्वारा आम हड़ताल की बार-बार निन्दा किये जाने के बावजूद रूसी क्रान्ति के कारण जब जर्मनी के मज़दूरों का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ, तो भयभीत होकर उन्होंने कोलोन में होनेवाली मज़दूर-काँग्रेस में यह नारा पेश किया—"मज़दूर-आन्दोलन को शान्ति और अमन चाहिये।" और कहा कि आम हड़तालकी चर्चा तक नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उसकी चर्चा भी आग से खिलवाड़ करना सिद्ध होगी। एक वकील नेता ने तो वहाँ के क़ानूनी किताब के पन्ने से ढूँढ़ निकाला कि राजनीतिक हड़ताल करना बिल्कुल ग़ैरक़ानूनी काम है, यह 'कान्ट्रैक्ट' को तोड़ना और 'भीषण षड्यंत्र' में शामिल होना है!

इस विषैले वातावरण में रोज़ा की "आम हड़ताल, पार्टी और मज़दूर संघ" नाम की पुस्तिका निकली। इस पुस्तिका ने इस विषय के विवाद को ऊँचे स्तर पर ला रखा। क्रान्तिकारी मोर्चे पर अनुभव प्राप्त करके यह पुस्तिका लिखी गई थी। इसके पृष्ठ-पृष्ठ से रूसी क्रान्ति के तज़ुर्बे चिनगारियों की तरह चमकते और अंधकार में प्रकाश फैलाते थे। रूस में जो आम हड़ताल हुई, उसका विश्लेषण उसने यों किया—

"किसी राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर, ऊपर के नेताओं के आदेश से, तैयार की गई योजना पर, यह काम में नहीं लाई गई, बल्कि हम इसमें कुछ ऐसे तथ्य पाते हैं जिन्हें क्रान्ति के ढाँचे से हम अलग नहीं कर सकते, क्योंकि वे हज़ारों तरह से क्रान्ति के साथ बँधे हुए हैं।

"रूस की क्रान्ति में हमने आम हड़ताल को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा-राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष के सभी रूपों और क्रान्ति की सभी मंज़िलों की झलक हम उसमें पाते हैं। उसका प्रयोग, उसका प्रभाव, उसका कारण बराबर बदलता रहता है। जब मालूम होता था कि क्रान्ति अब ख़त्म होने जा रही है, हम उसे अकस्मात नई सम्भावनायें पैदा करते हुए पाते थे। यों ही जब सफलता बिल्कुल नज़दीक़ मालूम होती थी, हम उसे अचानक दम तोड़ते हुए देखते थे। कभी वह बाढ़ की तरह समूचे देश को प्लावित करती थी, कभी वह छोटी नदी के रूप में किसी कोने में कलकल—छलछल करती थी। कभी वह ज्वालामुखी की तरह फूट उठती थी, कभी वह फूस की आग की तरह तुरत बुत कर ज़मीन में लुप्त हो जाती थी। राजनीतिक

और आर्थिक हड़ताल, आम हड़ताल और आंशिक हड़ताल, प्रदर्शन हड़ताल और जंगी हड़ताल, एक पूरे उद्योगधंधे में आम हड़ताल, एक शहर के ही सब उद्योगों में हड़ताल, वेतन के लिये शान्तिमय संघर्ष और बैरिकेड बनाकर सड़कों पर बाज़ाब्ता लड़ाई—हड़ताल के ये सारे रूप एक दूसरे से मिले–जुले थे। कभी बग़ल–बग़ल बहती, कभी एक—दूसरे को पार करती, बार-बार एक दूसरे में परिवर्तित होती, कभी गति में जाती, कभी भँवर बनाती–यह एक अजीब धारा मंडली–सी दीखती थी।

"आम हड़ताल और कुछ नहीं, एक निश्चित काल के राजनीतिक संघर्ष का वह एक रूप मात्र है और ज्यों ज्यों विरोधी शक्तियों के संबन्ध, पार्टी के विकास और वर्ग-भेद एवं प्रतिक्रिया की स्थिति में परिवर्तित होते हैं, उसमें भी हज़ारों तरह के रद्दोबदल होते जाते हैं। यह क्रान्ति की सबसे मज़बूत और ज़बर्दस्त नाड़ी है। रूस की क्रान्ति में हमने जो आम हड़ताल देखी, वह मज़दूरवर्ग के संघर्ष का पहले से बना बनाया हथियार नहीं थी, बल्कि वह क्रान्ति के ज़माने के मज़दूर-संघर्ष का मूर्तिमंत क़ानून थी।"

'क्रान्ति के ज़माने के मज़दूर-संघर्ष का मूर्तिमंत क़ानून'—जब इस रूप में आम हड़ताल को लेंगे, तो, फिर बिना आम हड़ताल के आप क्रान्ति की कल्पना भी कर सकते हैं? किन्तु, यहाँ रोज़ा पर यह इल्ज़ाम लगाया जाता है कि उसने क्रान्ति और आम हड़ताल को एक मानलिया, साथ ही, उसने आर्थिक और राजनीतिक हड़ताल में जो बुनियादी भेद है, उसे भुला दिया। वह जानती थी किसी निश्चित राजनीतिक उद्देश्य से की गई प्रदर्शन-हड़ताल या छिटफुट आम हड़ताल का बहुत ही महत्व है, किन्तु, किसी निश्चित समय के लिए उसके संचालकों द्वारा तय करके की गई प्रदर्शन-हड़ताल को पूर्ण विकसित क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष उसी तरह नहीं कहा जा सकता है, जिस तरह सैनिक प्रदर्शन को किसी भी हालत में युद्ध नहीं कहा जा सकता है। सैनिक प्रदर्शन करके दुश्मन-देश पर प्रभाव डाला जा सकता है, डरा धमकाकर उससे अपनी बात मनाई जा सकती है, उसी तरह प्रदर्शन-हड़ताल छोटे छोटे वैधानिक सुधारों के समर्थन में की जा सकती है। किन्तु, जो आम हड़ताल पहले से तैयार की गई किसी योजना पर नहीं होकर, आप से आप पैदा होती और आग की तरह फैलती है, उसकी तह में क्रान्तिकारी परिस्थिति होती है, भले ही उसका पूर्ण विकास कारणवश नहीं होने पावे। जब ऐसी हड़ताल होने लगे, तो समझना चाहिये कि यह क्रान्तिकारी हड़ताल की प्रारंभिक अवस्था है,

इसलिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। आम हड़ताल किसी निश्चित उद्देश्य से बनाई गई अप्राकृतिक, नक़ली पैदावार नहीं होती; बल्कि वह तो एक प्राकृतिक ऐतिहासिक घटना है। इसलिए, वह उन लोगों से सहमत नहीं थी, जो विशुद्ध राजनीतिक हड़ताल को एक निर्जीव और मेकैनिकल सिद्धान्त मानते थे। लेकिन, इसके साथही वह आम हड़ताल का उपयोग किसी डूबते हुए आन्दोलन में जान डालने के लिये करने के ख़िलाफ़ थी, क्योंकि, "यह आम हड़ताल नहीं है, जिससे क्रान्ति पैदा होती है, बल्कि यथार्थ बात यह है कि क्रान्ति ही आम हड़ताल की जननी है"—यह उसका निष्कर्ष था।

जब आम हड़ताल वर्ग-संघर्ष के क्रान्तिकारी मंज़िल की सूचना देती है, तो इससे यह भी साफ़ है कि ज़बर्दस्त से ज़बर्दस्त समाजवादी पार्टी भी मनचाहे वक़्त पर इसे पैदा नहीं कर सकती। जो आम हड़ताल सिर्फ़ पार्टी के अनुशासन और उत्साह पर ही केन्द्रित होगी, वह थोड़ी देर के लिए मज़दूरों की युद्ध-प्रवृत्ति को भले ही प्रगट करे, किन्तु, बाद में वह स्वाभाविक स्थिति में आ जायगी। किन्तु, यहाँ यह भी भूलना नहीं है कि क्रान्तिकारी स्थिति में भी आम हड़ताल आस्मान से नहीं टपक पड़ती। मज़दूर इसके लिये निर्णय करते हैं, इसमें नेतृत्व की आवश्यकता होती है, इसलिए संगठित समाजवादी पार्टी की आवश्यकता भी अनिवार्य है। किन्तु, यह प्रारंभ करने और नेतृत्व देने की शक्ति भी क्रान्तिकारी परिस्थिति पर ही निर्भर करती है। रूस की इस क्रान्ति में ही यह अच्छी तरह देख लिया गया, कि आम हड़ताल का 'आप से आप शुरू होना', लाज़िमी है। रेखागणित की तरह उसके लिये निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता ऐसे कितने ही आर्थिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, भौतिक और मानसिक पहलू उसे आगे बढ़ाते, हटाते या भिन्न भिन्न रूप देते हैं, जिन पर क़ब्ज़ा नहीं रखा जा सकता है। रूस का मज़दूर वर्ग नया था, उसमें शिक्षा नहीं थी, इसलिए ऐसा हुआ—यह कहना ग़लत है। सही बात यह है कि क्रान्ति पहले से तय की गई राह पर चलना नहीं चाहती, उसे आप उस पर घसीट कर नहीं ले सकते!

तब यहाँ सवाल यह उठता है कि जब क्रान्ति अपनी ही राह पर चलती है, आम हड़ताल क्रान्तिकारी परिस्थिति की ही बेटी है, तो फिर पार्टी, संगठन या शिक्षा की क्या आवश्यकता? रोज़ा पर जिनोविव आदि ने यह आक्षेप किया कि उसने आम हड़ताल को "आप से आप पैदा होनेवाली" चीज़ बनाकर सारा बंटाढार कर दिया। इसका जवाब उसी के शब्दों में सुनिये—

"समाजवादी पार्टी मज़दूरों के सबसे अधिक समझदार और वर्ग–जाग्रत हिस्से से बनी होती है। वह हाथ पर हाथ रखकर इस बात की प्रतीक्षा में नहीं बैठी रह सकती कि "क्रान्तिकारी परिस्थिति" कब आती है और कब आम हड़ताल 'आप से आप' आस्मान से चू पड़ती है। इसके ख़िलाफ़, उसे तो घटनाओं के आगे क़दम बढ़ाना और उनकी गति में तीव्रता लाना है। अचानक सोते हुए से जगकर और आम हड़ताल का नारा बुलंद कर वह ऐसा नहीं कर सकती। उसे हमेशा जाग्रत रहते हुए मज़दूरों को बताना पड़ेगा कि क्रान्तिकारी युग आ रहा है, उसके लिये सामाजिक परिस्थितियाँ इस तरह राह साफ़ कर रही हैं और उसका राजनीतिक परिणाम यह होगा।

"पार्टी के नेतृत्व का सबसे महत्वपूर्ण काम यह है कि आम हड़ताल के ज़माने में उसे लक्ष्य और दिशा दे और ऐसे राजनीतिक रणकौशल का उपयोग करे जिससे संघर्ष के हर क्षण में मज़दूर वर्ग की सारी सक्रिय शक्तियाँ ज़ोरदार ढंग से काम में आवें और उनमें पार्टी और समाजवादी सिद्धांत की युद्धप्रवृत्तियाँ प्रगट हों। ये युद्धप्रवृत्तियाँ शक्तियों के यथार्थ सम्बन्ध की सतह से नीचे न उतरने पावें, बल्कि उनसे ऊपर उठकर धधकती रहें। ऐसा नेतृत्व संघर्ष के टेकनिकल नेतृत्व के रूप में विकास पायगा। पार्टी द्वारा दिया गया तर्कसंगत, दृढ़प्रतिज्ञ और उन्नतिशील रणकौशल मज़दूरों में आत्मविश्वास भरेगा, उनकी युद्धप्रवृत्ति को बढ़ायेगा। ठीक इसके विपरीत यदि पार्टी हिचकिचाहट में रह गई, मज़दूरों की ताक़त पर उसे भरोसा न रहा, तो मज़दूरों में गोलमाल फैलना और अंततः उनका दम टूट जाना लाज़िमी है।"

आम हड़ताल के लिए बहुत बड़ी तैयारी की ज़रूरत है और उससे जो मज़दूरों को तकलीफ़ें होंगी, उसका ध्यान सबसे ज़्यादा करना है, ऐसी बातों पर रोज़ा का विश्वास नहीं था। वह समझती थी कि क्रान्तिकारी परिस्थिति में मज़दूर वर्ग में ऐसा ज्वलंत आदर्शवाद आ जाता है वह सब तकलीफ़ों को बर्दाश्त कर सकता है और संगठन और तैयारी के लिए जितना भी प्रयत्न किया जाय, वह थोड़ा है; तोभी, हमें यह न भूलना चाहिये कि ऐसे संघर्ष के अन्दर ही दृढ़ संगठनशक्ति आती है। उसने लिखा है—

"जब आम हड़ताल के उपयुक्त क्रान्तिकारी अवसर आता है, इस तरह तैयारी और तकलीफ़ का लेखाजोखा लगाना वैसा ही है जैसे समुद्र को बालटियों

से नापने की कोशिश करना। हाँ, यह निस्सन्देह समुद्र है—मज़दूरों के लिए तकलीफ़ों और तरद्दुदों का भीषण समुद्र। किन्तु, हर क्रान्ति के लिये उसकी क़ीमत चुकानी पड़ती ही है। हड़ताली मज़दूरों को आर्थिक या सामान की सहायता पहुँचाने की समस्या ऐसे मौक़े पर एक ही तरह से हल होती है—उनके हृदयों में आदर्शवाद का ऐसा प्रवाह आता है, जिसमें बड़ी से बड़ी तकलीफ़ें आपसे आप विलीन हो जाती हैं।"

अर्थशास्त्र और पूँजीवादी संग्रह

१९०७ में जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी ने बर्लिन में पार्टी-स्कूल क़ायम किया। तब से १९१४ के महायुद्ध शुरू होने तक हर साल पार्टी और मजदूर संघों के ३० व्यक्ति चुने जाते थे और जाड़े के मौसम भर उन्हें सामाजिक विज्ञानों और आन्दोलन एवं प्रचार की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। मजदूर आन्दोलन की वृद्धि के साथ ही उसके लिए सुशिक्षित सम्पादकों, व्यख्यानदाताओं और पदाधिकारियों की आवश्यकता बढ़ती गई। इस स्कूल के शिक्षकों में पार्टी के बड़े-बड़े नेता थे। रोज़ा भी चुनी गई थी, किन्तु उसने पहले इस पद को स्वीकार नहीं किया। किन्तु, जब १९०२ में जर्मनी की पुलिस ने, हिलफ़र्डिंग को, जो आस्ट्रिया का निवासी था, इस स्कूल में शिक्षा के पद से काम करने से मना कर दिया, तो, उसकी ख़ाली जगह की पूर्ति के लिए रोज़ा तुरत तैयार हो गई। रोज़ा के ज़िम्मे राजनीतिक अर्थशास्त्र पढ़ाने का काम सौंपा गया।

वह बड़ी योग्य शिक्षक सिद्ध हुई। उसका यह गुण तो बचपन में भी प्रगट हो चुका था। सिर्फ़ अपने विषय परही उसे अधिकार नहीं था, उसकी शिक्षणपद्धति भी बड़ी दिलचस्प थी। पार्टी का यह शिक्षणकार्य कोई आसान चीज़ नहीं था। भिन्न भिन्न तरह के विद्यार्थी होते—मिस्त्री, बढ़ई, खनिक, पार्टी के पदाधिकारी, मज़दूर-संघों के पदाधिकारी, घर सम्हाल का काम करनेवाली औरतें, दिमाग़ पेशे नौजवान इन सब का जमघट होता। उनमें से बहुतों को व्यवस्थित विचार करने का अभ्यास नहीं था। समाजवाद का ज्ञान पार्टी की प्रचार-पुस्तिकाओं या अपने अनुभव से उन्होंने प्राप्त किया था। रोज़ा ने शीघ्र ही उनसे संपर्क स्थापित कर लिया। वह प्रोफ़ेसरों की तरह वैज्ञानिक अनुसंधानों के नतीजों को सिर्फ़ व्याख्यान के रूप में नहीं बक जाती थी। उसकी पद्धति यह थी कि विद्यार्थी ख़ुद सोचें और अपने नतीजे पर पहुँचें, वह उन्हें सिर्फ़ रास्ता बताती चले। वह सवालोंद्वारा उनमें

उत्सुकता पैदा करती और फिर उनके जवाबों की ग़लती बताते हुए सारी समस्या का विश्लेषण रखती। कुछ प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को लेकर बढ़ते जाना और बाक़ी को पीछे छोड़ देना, वह कभी नहीं पसंद करती थी। उसके क्लास के सभी विद्यार्थियों को काम करना पड़ता, वह उनकी ज़रा भी असावधानी और लापरवाही बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थी। वह उनकी महत्त्वाकांक्षा को प्रेरणा देती, किन्तु, उनकी सुस्ती ग़ुस्ताख़ी को कभी पसंद नहीं करती। वह डाँट डपट भी करती, किन्तु, उसकी डंक को तुरत ही कुछ दिल्लगियों के फ़िक़रे या कुछ मैत्री पूर्ण बातें कहकर ख़त्म देती। उसकी हाज़िर जवाबी तो मशहूर थी। कुन्द ज़ेहन से तेज़ दिमाग़ का काम लेना उसी का काम था। वह ऐसा वातावरण बनाने में समर्थ हो सकी थी, जिसमें हर विद्यार्थी अपनी पूरी प्रतिभा का प्रदर्शन कर सके। प्रतियोगिता और होड़ा होड़ी वहाँ आप से आप पैदा हो जाती। वह विद्यार्थियों को तर्क की राह पर ले जाती, उन्हें बढ़ने को प्रेरित करती, बीच-बीच में उनसे पूछती और टोकती जाती, और यों विद्यार्थियों को, अनजाने ही, सही नतीजे पर पहुँचा देती। इस तरह से जिन नतीजों पर वे पहुँचते, वे उनके दिल में घर कर लेते, क्योंकि वे उनकी अपनी चीज़ होते नकि शिक्षकों द्वारा उनके दिमाग़ और दिलपर लादी गई चीज़ें।

इसमें शक नहीं कि ज्ञान और अनुभव, दिमाग़ और व्यक्तित्व में वह अन्य शिक्षकों से कहीं बढ़ी चढ़ी थी; किन्तु, उसमें अभिमान छू नहीं गया था। वह अपने इन गुणों के बोझ से अपने विद्यार्थियों को दबाना नहीं चाहती थी। इनमें कुछ ऐसे विद्यार्थी थे, जो पहले से तय करके आये थे कि वह रोज़ा से प्रभावित नहीं होंगे, किन्तु, एक-एक कर वे जीत लिये गये। इन शिष्यों में से कुछ बाद में उसके राजनीतिक कार्यों में विरोधी बने, किन्तु रोज़ा के लिये उनके दिल से सम्मान कभी नहीं गया। उसका उद्देश्य था, अपने विचार और लक्ष्य के लिए शिष्यों के दिल और दिमाग़ को जीतना और इसमें वह पूर्ण सफल रही।

इस अध्यापन के समय उसने दो किताबें तैयार कीं, जो समाजवादी साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान रखती हैं। उनमें से एक पुस्तक थी "अर्थशास्त्र प्रवेशिका"। इस किताब के कुछ फुटकल अंश ही मिल पाते हैं, किन्तु, १९१६ में रोज़ाने बर्लिन जेल से अपने प्रकाशक के पास जो ख़त लिखा, उससे उस पुस्तक की रूपरेखा की झलक हमें मिलती है। अपने विद्यार्थियों से सम्भाषण करते समय उसे जो उनकी

कठिनाइयाँ प्रतीत हुई थीं, उन्हीं को दृष्टि में रखकर, यह पुस्तक तैयार की गई थी। इसमें कार्ल मार्क्स के आर्थिक शिक्षणों को सुगम और सिलसिलेवार ढंग से रखने की चेष्टा की गई थी। ऐसी चेष्टा पहले भी हुई थी, किन्तु, रोज़ा चर्वित चर्वण करनेवाली जन्तु नहीं थी। मनुष्य के आर्थिक और सामाजिक इतिहास की मंज़िलों का निदर्शन करती हुई, हर मंज़िल में जो सामाजिक विचार धारायें थीं, उनकी आलोचना उसने की थी। उसकी लेखनशैली प्रांजल और तर्कशक्ति तीक्ष्ण थी। विद्यार्थियों द्वारा जो आधे–सही जवाब उसे मिलते थे, उसी को पकड़कर वह सही नतीजे की ओर बढ़ती थी। इस पुस्तक में भी उसी शैली का अनुकरण किया गया है। अपने विपक्षियों की वैज्ञानिक कमज़ोरी के पीछे नैतिक कमज़ोरी पर वह हाथ रखती थी और उसका भंडाफोड़ करते वह ज़रा नहीं हिचकती थी। जो दकियानूसी अर्थशास्त्री थे, उनका मख़ौल उड़ाते हुए भी वह अपने विषय से नहीं बहकती थी। उसने बार–बार दिखलाया कि ये दकियानूस अर्थशास्त्री जो ग़लतियाँ करते हैं तो जानबूझ कर, अपने वर्गस्वार्थ की रक्षा के लिए करते हैं और अर्थशास्त्र का उपयोग शासक वर्ग ने हमेशा ही अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिए किया है।

आधुनिक अर्थशास्त्र की पैदाइश पूँजीवादियों द्वारा हुई। सामंतशाही के ख़िलाफ़ इसका इस्तेमाल उन्होंने किया। निस्संदेह यह उनकी बड़ी वैज्ञानिक सेवा थी। किन्तु, ज्योंही मज़दूर वर्ग का जन्म हुआ, इसका इस्तेमाल वर्तमान समाज-व्यवस्था को क़ायम रखने के लिये किया जाने लगा। इन पूँजीवादी समर्थकों ने इसकी विजय को धूल में मिला दिया और अब तो एक आर्थिक रहस्यवाद के रूप में ही इसकी स्थिति रह गई है। रोज़ा ने यह भी बताया कि जिस समय पूरी समाजवादी योजनामूलक अर्थनीति की स्थापना हो जायगी, अर्थशास्त्र की कोई भी उपयोगिता नहीं रहेगी।

प्रारंभिक अवस्था में जो समाजवादी व्यवस्था थी, उसके बाद किस तरह समाज की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होते गये और अंतमें किस तरह इस पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का भी अन्त लाज़िमी है, बड़ी सफ़ाई से रोज़ा ने इस पुस्तक में दिखलाया। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर समाज के विकास को विशद रूप से दिखलाने की यह प्रथम चेष्टा थी, इसमें तो संदेह ही नहीं।

पार्टी स्कूल के शिक्षण–कार्य के सिलसिले में ही, या यों कहिये कि उपर्युक्त पुस्तक की रचना के कार्य्य में ही उसने अनुभव किया कि पूँजीवाद के विकास पर

अभी बहुत कुछ कहना रह गया है, अतः, उस अभाव की पूर्ति के लिए उसने दूसरी पुस्तक लिखी; जो "पूँजी का संग्रह" के नाम से मशहूर है। इस पुस्तक में उसने पूँजी के संग्रह की भिन्न भिन्न स्थितियों की चर्चा करते हुए, समाजवाद की आर्थिक व्याख्या बतलाई है।

सभी मार्क्सवादियों की तरह रोज़ा की भी यह निश्चित धारणा थी कि पूँजीवादी समाज का यह निश्चित परिणाम है कि संसारव्यापी युद्ध हो। अपने अनुसंधानों के आधार पर वह इस निर्णय पर पहुँची कि जिन कारणों से ये महायुद्ध होंगे, वे ही पूँजीवादी के विनाश के भी कारण होगें।

पूँजीवादी व्यवस्था के क़ायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसका हमेशा विकास होता रहे। पहले की आर्थिक व्यवस्था में चीजें पैदा होती थीं, उनका उद्देश्य था—उपयोग। जो चीजें पैदा होतीं, उन्हें मालिक और ग़ुलाम दोनों मिलकर उपयोग में लाते। बुरी फ़सल, लड़ाई या महामारी के चलते उनपर संकट आते थे, किन्तु, उस आर्थिक व्यवस्था के आवश्यक कारण के रूप में संकट (crises) का नाम भी नहीं था। ज़्यादा पैदावार होने से संकट आये, वैभव के अम्बार के बीच में आदमी भूखों मरे, आवश्यक सामानों को बेरहमी से बर्बाद कर दिया जाय—ऐसी बातें सोची भी नहीं जा सकती थीं। पूँजीवादी व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि वह समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, लेकिन, इसका उद्देश्य दूसरा ही है। वह उद्देश्य है मुनाफ़ा—और मुनाफ़ा तब मिलता है जब मज़दूरों से उनकी मज़दूरी से ज़्यादा काम लिया जाय। यह मुनाफ़ा सामान के रूप में ही पहले आता है, इसलिए ज़रूरी है कि इन सामानों के ख़रीदने के लिए ख़रीदार मिलते जायँ। वही पूँजीवादी अपने सामान जल्द बेच सकेगा, जो सस्ता बेच सके इसलिए पूँजीपतियों में परस्पर होड़ मची रहती है। सामान सस्ता करने के लिए वे औज़ारों में तरक़्क़ी करते हैं। औज़ारों में तरक़्क़ी होने से एक ओर जहाँ ज़्यादा सामान तैयार होते हैं, वहाँ दूसरी ओर मज़दूरों की तादाद घटती है। औज़ारों की तरक़्क़ी जितनी ज़्यादा होगी, उतने ही कम मज़दूर उसमें लगाये जायँगे। फलतः बहुत से मजदूर बेकार हो जाते हैं, उनकी मज़दूरी में कमी की जाती है, और इन मज़दूरों की आर्थिक स्थिति के बिगड़ने से उन सामानों के ख़रीदार भी कम हो जाते हैं। सामान ज़्यादा, ख़रीदार कम। तब सामानों को बर्बाद किया जाना, पैदावार रोक देना आदि क्रियायें शुरू हो जाती हैं। आर्थिक संकट आता है, हाहाकार मचता

है। कुछ वर्षों में हालत जब स्वाभाविक स्थिति में आती है, फिर वही पुराना रवैया शुरू होता है और फिर बड़े पैमाने पर संकट हाज़िर होता है।

यह थी मार्क्स की तर्कप्रणाली और आर्थिक व्यवस्था की व्याख्या। किन्तु, १८५० के बाद देखा गया कि यूरोप के मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ती गई, बेकारों की तादाद बढ़ने की अपेक्षा घटती गई, आर्थिक संकटों का आना कम होता गया, पूँजीवादी समृद्धि में उन्नति ही उन्नति होती गई। इसे देखकर मार्क्स के कुछ तथाकथित अनुयायियों ने कहना शुरू किया, मार्क्स की बातें या तो ग़लत हैं, या वे अब बदली हुई हालत में लागू नहीं की जा सकतीं। रोज़ा ने इन लोगों की इन दलीलों का करारा जवाब दिया। उसने बताया कि यह पूँजीवादी समृद्धि क्षणिक है, यद्यपि यह आधी शताब्दी तक टिकी रही। इसके कारण भी हैं, किन्तु, बकरे की मां कब तक ख़ैर मनायेगी? ये कारण उसकी उम्र थोड़ी बढ़ा दें, किन्तु, अन्ततः उसकी मौत निश्चित है।

उसने पूँजीवादी विकास को तीन हिस्सों में बाँटा—

(क) पूँजीवाद के प्रारम्भिक स्वावलम्बी समाज की अर्थनीति से संघर्ष–जो सामंतशाही के अन्दर पूँजीवाद के जन्म के साथ ही शुरू हुआ और जो अपनी भौगोलिक सीमा को पारकर दूसरे देशों में भी जा पहुँचा।

(ख) पूँजीवाद के व्यापारी माल की सरल पैदावार-प्रणाली के साथ संघर्ष और

(ग) पूँजीवादी संसार की, विदेशी बाज़ार की रही सही लूट के लिए, भीषण प्रतियोगिता–यानी पूँजीवादी संग्रह के अंतिम प्रयत्न।

हिन्दुस्तान और अलजीरिया की मिसाल देकर उसने बताया कि किस तरह से उपनिवेशों की प्रारंभिक स्वालम्बी अर्थनीति को पाशविक ढंग से बर्बाद किया गया। चीन की अफ़ीम–लड़ाई से लेकर बौक्सर–लड़ाई तक का ख़ूनी इतिहास पूँजीवादी संग्रह के इस हिस्से का ज्वलंत उदाहरण है। अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ़्रीका के हब्सियों और आदिवासियों की ज़मीन और आज़ादी और बहुत अंशों तक ज़िन्दगी लूटी गई; ग़ुलामों के व्यापार के नाम पर ख़ून और हत्या का बाज़ार गर्म किया गया, सिर्फ़ इसलिए कि मुनाफ़ा मिलता रहे, बढ़ता रहे। इस तरह प्रारंभिक स्वावलम्बी अर्थनीति पर विजय प्राप्त कर पूँजीवादी ने व्यापारी माल

की सरल उत्पादन-प्रणाली के क्षेत्र में प्रवेश किया। ऐसा कहा जाता है कि पूँजीवाद ग़ैर पूँजीवादी समाज पर जीता है, नहीं, सच बात यह है कि वह उसके विनाश पर जीता है। कहा जाता है कि पूँजीवाद के लिए ग़ैर पूँजीवादी क्षेत्रों की आवश्यकता है, लेकिन, सच बात यह है कि वह अपने संग्रह की प्रवृत्ति में वैसे क्षेत्रों को निगलता जा रहा है। पूँजीवाद अगर ग़ैरपूँजीवादी क्षेत्रों के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकता, तो ये ग़ैरपूँजीवादी क्षेत्र भी पूँजीवाद की बग़ल में ज़िन्दा नहीं रह सकते हैं—वे उसके निवाला बनके रहेंगे।

ऐसे ग़ैरपूँजीवादी क्षेत्रों में पूँजीवाद का ज्यों ज्यों प्रवेश होता जाता है, त्यों, त्यों उसके शोषण के तरीक़े और भी तेज़ होते जाते हैं। पहले वह वहाँ तैयार माल भेजता और मुनाफ़े लूटता है। फिर, उस मुनाफ़े से उत्पादन के औज़ारों में तरक़्क़ी करता और ज़्यादा माल पैदाकर अपने लिए एक अनिवार्य असंगति की सृष्टि करता है। सिर्फ़ इतने ही से उसे संतोष नहीं; तैयार माल की जगह वह अपनी पूँजी को भी उन क्षेत्रों में भेज कर वहाँ कारख़ाने खड़े करना शुरू कर देता है। इस तरह वह वहाँ भी अपना प्रतियोगी स्वयं बना लेता है। पहले इन पूँजीवादी डकैतों का अलग-अलग क्षेत्र बँटा रहता है, जहाँ वे अपनी-अपनी लूट जारी रखते हैं। किन्तु, ज्योंही ये क्षेत्र कम होने लगते हैं, उनमें प्रतिद्वंदिता और बढ़ जाती है और लूट के माल के बँटवारे के लिए झगड़े खड़े हो जाते हैं। यही साम्राज्यवाद का विकसित रूप है—

"साम्राज्यवाद एक ओर पूँजीवाद की उम्र बढ़ाता है, तो दूसरी ओर निश्चित से उसे सीमित भी करता है। इसका यह मानी नहीं कि उसकी अंतिम सीमा स्वतः या अनिवार्यतः पहुँच जायगी, किन्तु, उस अंतिम सीमा की झलक साथ दिखाई पड़ रही है और इसके लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं कि पूँजीवाद की यह अंतिम मंज़िल एक महान संकट और विनाश का युग सिद्ध होगी!"

साम्राज्यवाद के विरोध में

रोज़ा ने "पूँजी के संग्रह" द्वारा न सिर्फ़ एक सैद्धान्तिक प्रश्न का उत्तर पेश किया, बल्कि उसने साम्राज्यवाद को उसके सभी दुर्गुणों के साथ लोगों के सामने रखा। किस तरह पूँजीवादी राज्यों में उपनिवेशों और प्रमुख क्षेत्रों के लिए पूँजी को देश से बाहर भेजने और कच्चे माल की प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता होती

है; संक्षरण की नीति की तह में क्या है; बैंकों और ट्रस्टों का प्रभाव किस तरह बढ़ रहा है; राष्ट्रों में क्यों शस्त्र-वृद्धि के लिए घुड़दौड़ हो रही है; ये सब चीज़ें ऐसी नहीं हैं, जिन्हें अलग रखकर पूँजीवाद का विकास किया जा सकता था। ये तो उसकी ऐतिहासिक आवश्यकतायें हैं—उसकी आख़िरी मंजिल की सूचना देती हैं। और इन बातों का ज्ञान मज़दूरों को होना ज़रूरी है, क्योंकि इन्हें बिना समझे साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए न तो मज़दूरों में साफ़ दृष्टि आयगी और न पूरी ताक़त।

साम्राज्यवाद के इस प्रश्न को लेकर जर्मनी के समाजवादियों में काफ़ी विवाद चला। सुधारवादी दल ने इतना कहकर ही सन्तोष किया कि ठीक, साम्राज्यवाद अगर पूंजीवाद की आख़िरी मंज़िल है, तो हमें सच्चे मार्क्सवादी होने की हैसियत से इस ऐतिहासिक विकास में रुकावट नहीं डालना चाहिये, बल्कि मदद देनी चाहिये! कैसी आत्म-वंचना! किन्तु, कौट्स्की आदि जो अपने को मध्य में रहने वाले मार्क्सवादी समझते थे, उन्होंने इसमें काफ़ी हिस्सा लिया। कौट्स्की ने यह सिद्धान्त निकाला—हाँ, पूँजीवाद का विकास हो रहा है, किन्तु उसके इस प्रकार को साम्राज्यवाद नहीं कहा जा सकता। साम्राज्यवाद उसके प्रसार का एक प्रखर रूप है, लेकिन इसका संचालक पूँजीवादियों का एक छोटा-सा गिरोह है, न कि पूरा पूँजीवादी वर्ग। साम्राज्यवाद समूचे पूँजीवादी वर्ग के हित में नहीं है, और न बड़े उद्योगों के ही हित में। राजनीतिक शक्ति आर्थिक विकास में दिन दिन कम महत्वपूर्ण होती जा रही है। साम्राज्यवाद के कारण अस्त्र-शस्त्र में इतना अधिक ख़र्च करना पड़ता है कि पूँजीपति वर्ग का बहुमत उसके ख़िलाफ़ होता जायगा। यों धीरे-धीरे स्वयं पूँजीवादी शक्तियाँ साम्राज्यवाद को छोड़ती जायँगी और 'स्वतंत्र व्यापार' और 'खुले द्वार' की नीति को अपनाती जायँगी।

रोज़ा ने इन लोगों का ओजस्वी शब्दों में जवाब दिया। उसने बताया कि इस सिद्धान्त को पेश करके शायद पूँजीवादियों पर यह असर डालने की कोशिश की गई है कि साम्राज्यवाद और सैनिकवाद ख़ुद उनके हितके लिए ही बुरे हैं; अतः, वे मज़दूरों से मिलकर उन एक मुट्ठी पूँजीवादियों का विरोध करें, जो उनके पूरे वर्ग को ख़तरे और विनाश की ओर लिए जा रहे हैं! उनकी यह आशा है कि इस तरह वे 'साम्राज्यवाद' को भूखों मरने को लाचार करेंगे या उसके ज़हरीले दाँत को तोड़ सकेंगे! उनकी यह आशा इतनी ही बड़ी मृगतृष्णा है जितनी कि सुधारवादी पूँजीपतिओं को उस समय थी, जबकि उन्होंने मूर्ख राजाओं की ओर

लक्ष्य कर "बुद्धिमान राजाओं" से अपील की थी कि वे स्वयं प्रजातंत्र की स्थापना कर दें। वे पूँजीपतिओं को दो हिस्सों में बाँटना चाहते हैं—'समझदार' पूँजीपति और 'बेसमझ' पूँजीपति और समझते हैं कि समझदार पूँजीपति अन्तर्राष्ट्रीय सुलहनामे के द्वारा अस्त्रशस्त्र की वृद्धि को रोक देंगे और संसारव्यापी महायुद्ध के बदले प्रजातंत्रीय राष्ट्रीय सरकारों के संघ की स्थापना हो सकेगी। यह शुतुरमुर्ग की तरह सिर्फ़ बालू में मुँह छिपाना नहीं है, बल्कि मज़दूरों को भ्रम में डालकर उन्हें उस दिन की तैयारी से रोकना है जिस दिन पूँजीवाद और मज़दूरवर्ग का आख़िरी युद्ध होगा!

साम्राज्यवाद की ओर जर्मन सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का भी यही रुख़ था। वे साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ आवाज़ तो उठाते थे किन्तु, 'राइख्टाग' में जो उनके मेम्बर थे, वे हमेशा जर्मन साम्राज्यवाद के विकास के विधानों के समर्थन में ही वोट देते थे। उनमें से कुछ तो इँग्लैंड से युद्ध करने की बात भी करते थे। संसार के उपनिवेशों का फिर से बँटवारा होना चाहिए,' ऐसी आवाज़ लगाकर वे देशों को ग़ुलाम बनाने की प्रथा का भी अप्रत्यक्षतः समर्थन करते थे। १९११ में ब्रन्स्टीन ने कहना शुरू किया कि लड़ाई की चर्चा करना भी फ़िज़ूल है। लड़ाई हो नहीं सकती, सभी राष्ट्रों में अब शान्तिवादी नेताओं की तादाद बढ़ रही है। वह दिन दूर नहीं, जब यूरोप का एक संयुक्त राज्य बनकर ही रहेगा। रोजाका कहना था कि यह शान्ति और निःशस्त्रीकरण की चर्चा ढोंग मात्र है। जब सर एडवर्ड ग्रे ने निशस्त्रीकरण की बात की, उसने कहा—

"अगर ये बड़े-बड़े राज्य सचमुच शस्त्रीकरण को रोकना चाहते हैं तो इन्हें संरक्षण की प्रणाली को तोड़ना पड़ेगा और औपनिवेशिक लूट को छोड़ना पड़ेगा। एक ओर निःशस्त्रीकरण की बात करना, दूसरी ओर संसार भर पर प्रभावक्षेत्र क़ायम रखना—ये परस्पर विरोधी बातें हैं।"

रोज़ा ने यह स्पष्ट किया कि साम्राज्यवाद पर पूँजीवादी ढाँचे के अन्दर नियंत्रण किया नहीं जा सकता, क्योंकि यह पूँजीवाद समाज के गहरे स्वार्थ से ही विकसित हुआ है। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ जो कोई संघर्ष होगा, वह सम्पूर्ण पूँजीवादी समाज के ख़िलाफ़ होगा। साम्राज्यवाद और समाजवाद—दो ही राहें हैं, इनमें से एक ही को चुना जा सकता है। आज संसार में जो राजनीतिक संघर्ष हो रहे हैं, उनका कोई आंशिक निपटारा खोजना मज़दूरवर्ग को धोखा देना और पूँजीवादियों के एक

गिरोह से गठबंधन करना होगा। निस्संदेह ही यह गठबंधन अपने देश के पूँजीपतिओं से होगा, जो आगे चलकर, मज़दूरों को राष्ट्रीयता के दलदल में फँसावेगा और साम्राज्यवादी युद्ध के प्रारंभ होने पर उन्हें उसका समर्थन करने और उसमें शामिल होने को वाध्य करेगा। इस पूँजीवादी समाज के अन्दर शान्तिका शोर मचाना —निःशस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत, उदार औपनिवेशिक नीति आदि के लिए प्रचार करना या तो भ्रमजाल है, या पूँजीवादी हिंसा को छिपाने के लिए धोखे की टट्टी है। यह मज़दूरों की दृष्टि को धुँधली बनाता है और उनकी ताक़त को कमज़ोर करता है।

युद्ध के विरोध में रोज़ा के विचार १९०७ में ही लोगोंको अच्छी तरह मालूम हो चुके थे। दूसरी इन्टरनेशनल के १९०७ वाली काँग्रेस में उसने लेनिन और मार्टोव के साथ एक प्रस्ताव तैयार किया था, जो वहाँ सर्वसम्मति से पास हुआ। उस प्रस्ताव में कहा गया था—

"लड़ाई का खतरा मालूम होते ही, इन देशों के मज़दूरों और उनके पार्लियामेंन्टरी सदस्यों का काम होगा कि वे युद्ध को रोकने के लिए उचित उपायों को काम में लावें और यदि उनकी चेष्टा के बावजूद युद्ध प्रारंभ हो ही जाय, तो उसे तुरत खतम करने के लिये उपाय करना और युद्ध के चलते, होने वाले आर्थिक और राजनीतिक संकटों का उपयोग कर, जनता को उभाड़ना और पूँजीवादी शासन को उखाड़ फेंकने की चेष्टा करना उनका कर्तव्य हो जायगा।"

कौट्स्की से संबन्ध-विच्छेद

नेताओं के दकियानूसी विचारों के बावजूद जर्मनी के मज़दूरों में धीरे-धीरे क्रान्तिकारी भावनायें घर कर रही थीं। १९०८ में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। जर्मनी के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में पहली बार हम मज़दूरों को पुलिस की मनाही की अवज्ञा कर सड़कों पर प्रदर्शन करते पाते हैं। इसका तुरत का नतीजा यह हुआ कि क़ैसर ने अपने राजकीय भाषण में वोट देने के अधिकार में सुधार करने की प्रतिज्ञा की। किन्तु, दो वर्ष हो गये, इस संबन्ध में कुछ नहीं किया गया। उल्टे, इसके बदले सुधार के नाम पर मध्यवर्गीय लोगों को एक अलग वर्ग बना कर मानो मज़दूरों के मुँह पर घूँसा मारा गया।

इस घूँसें ने मजदूरों के आत्मसम्मान पर धक्का पहुँचाया, वे जागे और १९१० के फरवरी और मार्च महीने के हर रविवार को जर्मनी के हर बड़े शहर में मज़दूरों की वड़े वड़े प्रदर्शन होने लगे। इन प्रदर्शनों पर मनाही की गई थी, किन्तु, कौन उसकी परवाह करता है? प्रान्तीय शहरों में, कई जगह, पुलिस से खुलकर मुठभेड़ें भी हुईं, जिसमें काफ़ी खून बहा। इस खून ने मज़दूरों के हृदयों में जलती हुई उमंग की आग में घी का काम किया। प्रदर्शनों में औरभी गरमी आई। बर्लिन के पुलिस-प्रेसिडेन्ट ने बड़ी शान से दमन की घोषणा की और शहर की गलियों में फ़ौज़ की टुकड़ियाँ खड़ी करा दीं। इन टुकड़ियों से मज़दूर बिल्कुल नहीं डरे, हाँ, कुछ ऐसी होशियारी से काम करने लगे कि पुलिस-प्रेसिडेन्ट साहब दाँतों अँगुली काट कर रह जाते। लाखों मज़दूर ऐसी जगहों पर अकस्मात पहुँचकर प्रदर्शन करने लगते, जहाँ के लिए उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी। इन प्रदर्शनों के कारण नये सुधार वापस लिये गये और मज़दूरों को सड़कों पर प्रदर्शन करने का स्थायी अधिकार प्राप्त हुआ।

यों जर्मनी के मज़दूरों ने पहली लड़ाई में फ़तह हासिल की। इस लड़ाई ने यह साबित किया कि उनमें क्रान्तिकारी भावनाओं की कमी नहीं, वे लड़ना जानते हैं और लड़ सकते हैं। इन प्रदर्शनों से प्रभावित होकर खनिकों ने जबर्दस्त हड़ताल अपनी मज़दूरी बढ़ाने के लिए की और दो लाख मिस्त्रियों और घर बनानेवाले मज़दूरों ने भी काम बंद कर अपनी बात मानने को लोगों को लाचार किया। रोज़ा इन घटनाओं से इस नतीजे पर आई कि यही मौक़ा है जब एक आम राजनीतिक हड़ताल बोल कर जर्मनी के शासकों से मज़दूरों के हित में बालिग़ मताधिकार का हक़ हासिल किया जाय। उस समय जर्मनी में वोट देने का हक़ विचित्र था। १९०८ में मजदूरों के उम्मीदवारों को ६ लाख वोट मिले, तोभी उनके सिर्फ़ ६ आदमी चुने जा सके, इधर दकियानूस उम्मीदवारों ने ४ लाख वोट में २१२ जगहें हासिल कर लीं। रोज़ा का कहना था कि आज जो क्रान्तिकारी परिस्थिति आ गई है, उसमें मज़दूरों को आगे बढ़ने से रोकना और और ज़्यादा ननु-नच करना स्वयं पराजय को निमंत्रण देना है।

यह विचार पार्टी में घर कर रहा था और कई जगहों की संस्थाओं ने इसके पक्ष में प्रस्ताव कर पार्टी की केन्द्रीय कमिटी के पास भेजा था। कील और फ्रांकफ़ोर्ट में प्रदर्शन-हड़तालें शुरू भी हो गईं थीं। किन्तु, पार्टी का जैसा नेतृत्व था, यह उम्मीद की नहीं जा सकती थी। उसने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया।

रोज़ा ने अपने विचारों को एक लेख में लिपिबद्ध करके पार्टी के मुखपत्र 'बोखार्ट' में भेजा, जहाँ से पार्टी नेताओं के हुक्म से वह लौटा दिया गया। तब उस लेख को उसने कौट्स्की के पास 'न्यूज़ीत' में छपने के लिए भेजा, किन्तु, उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उसने उत्तर पाया कि "बहुतही सुन्दर और महत्वपूर्ण" होने पर भी उसका यह लेख 'न्यूज़ीत' में नहीं छापा जा सकता। पीछे वह लेख कई टुकड़ों में कई दैनिक पत्रों में छपा, लेकिन रोज़ा इस अपमान को नहीं पी सकी। रोज़ा 'न्यूज़ीत' के स्थायी लेखकों में थी, उसकी सलाहकार-मंडली की वह एक सदस्या थी और कई बार उसने सम्पादकीय उत्तरदायित्व को भी निभाया था। कौट्स्की का जो सम्मान उग्रपंथी समाजवादियों में था, उसका कारण रोज़ा भी थी। उसी रोज़ा का लेख उस 'न्यूज़ीत' से वापस आये। किन्तु, आश्चर्य की बात इतनी ही नहीं थी। जब रोज़ा का लेख दूसरे पत्रों में छप चुका तो उसका जवाब 'न्यूज़ीत' ने दिया!

रोज़ा ने उस जवाब का जवाब लिख भेजा। इसे छापने से फिर कौट्स्की ने इन्कार किया, किन्तु, उस पर चारों ओर से छिः छिः होने लगी, जिससे उसे फिर छापने को लाचार होना पड़ा। मई से अगस्त तक दोनों में ख़ूब बहस चली। इस बहस में फ्रांज मेहरिंग और लेनिन ने भी भाग लिया और लेनिन ने कौट्स्की का समर्थन किया। लेनिन की आँख तब खुली, जब १९१४ का महायुद्ध शुरू हुआ और कौट्स्की ने क़ैसर का समर्थन करना शुरू कर दिया। उस समय १९१४ के अक्टूबर में लेनिन ने लिखा—"रोज़ा उस समय ठीक बात कह रही थी। मैं तो ग़लती में था। उसने कौट्स्की को मुझसे पहले पहचाना—कौट्स्की समय साधक है, विचारक नहीं; वह बहुमत का अनुसरण करनेवाला अवसरवादी है।" पीछे कौट्स्की रूस की १९१७ की क्रान्ति का भी विरोधी हो गया और लेनिन ने उसे जवाब देते हुए—"मज़दूरों का एकाधिकार और पतित कौट्स्की" नाम की एक पुस्तक लिखी! किन्तु, रोज़ा ने तो १९१० में ही कौट्स्की से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया था।

कौट्स्की से रोज़ा का संबन्ध-विच्छेद हो जाने से जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी में अब तीन दल हो गये—पहला सुधारवादियोंका, जिन्होंने धीरे धीरे साम्राज्यवादी नीति अख़्तियार कर ली। दूसरा—मध्यमार्गियोंका, जो ऊपर से क्रान्तिकारिता का बुर्क़ा ओढ़े रहे, लेकिन जो धीरे धीरे सुधारवादियों की राह पर ही

आगे बढ़ते गये और तीसरा क्रान्तिवादियों का जो साधारणतः वामपक्षी कहे जाते और जिनका नेतृत्व रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग, क्लारा जेटकिन, फ्रांज़ मेहरिंग, कार्ल लिब्तक्नेख्त कारस्की और पैनेकोयक करते थे।

१९१४ के महायुद्ध शुरू होने के पहले की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की पूरी नीति समस्याओं को भुलाने, पीछे हटने और एक के बाद एक भ्रान्ति की सृष्टि करने की रही है। १९११ में जर्मनी के वैदेशिक सचिव के कारनामे के कारण मालूम हुआ, अब महायुद्ध छिड़कर रहेगा। उस समय दूसरी इन्टरनेशनल की ओर से हर देश की पार्टियों से अपील की गई कि इसे रोकने के लिए कुछ संयुक्त कार्य किया जाय। जर्मनी की पार्टी ने इसमें शामिल होने से साफ़ इन्कार कर दिया, इस बिना पर कि जर्मनी के वैदेशिक सचिव ने उसे इत्मीनान दिलाया है कि जर्मनी युद्ध नहीं करने जा रहा है, साथ ही, यदि उपनिवेश के प्रश्न पर पार्टी ने ज़्यादा ज़ोर दिया, तो अगले चुनाव में उसे वोट कम मिलेंगे। रोज़ाने हल्ला मचाया कि यह तो साफ़ विश्वासघात है। उस हल्ला से डर कर पार्टी ने मोरक्को की चढ़ाई का विरोध किया, किन्तु, उसका ध्यान तो चुनाव पर लगा हुआ था।

१९१२ में चुनाव हुआ और पार्टी के ११० उम्मीदवार कामयाब हुए। इस विजय पर कौट्स्की और उसके दोस्तों ने बड़ा आनंद मनाया। किन्तु, इस चुनाव की लड़ाई में कामयाब होने के लिए पार्टी ने किस तरह अपने सिद्धान्त को छोड़ दिया था और अपने ईमान को उदारदली पूँजीवादियों के हाथ गिरवी रख दिया था, इसका सबूत तो इसके दो वर्षों के बाद मिला। किन्तु, उसके लक्षण एक वर्ष के बाद ही प्रगट होने लगे। जब १९१३ में लुंडनडौर्थ ने राईख्टाग में नये शस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा, तो पार्टी के मेम्बरों ने इस शस्त्रीकरण के प्रस्ताव को काम में लाने वाले बजट के पक्ष में वोट दिया। इस बजट पर वोट देने के बारे में उनका कहना था कि चूँकि यह रक़म धनियों से वसूल की जायगी, इसलिए हमने वोट देना अनुचित नहीं समझा। यद्यपि पार्टी इस सिद्धान्त पर आज तक काम करती आ रही थी कि किसी ख़र्चे के रूप पर ही विचार कर उस पर वोट देना चाहिए, न कि उसके ज़रिये पर। यहाँ यह खर्च शस्त्रीकरण के लिए था, अतः पार्टी को वोट नहीं देना चाहिये। किन्तु, जब पतन की ओर झुका जाता है, तो क्या उसकी कोई सीमा होती है?

रोज़ा पार्टी के इस क्रमशः पतन की ओर जर्मनी के मज़दूरों को ध्यान दिलाती और क्रान्तिके आदर्श को उनके सामने रखती थी। उसका प्रभाव मज़दूरों पर पड़ता था,

इससे बौखलाकर कौट्स्की ने रोज़ा को नई नई उपाधियाँ दीं—वह षड्यंत्रकारिणी है, वह अराजकतावादिनी है, वह क्रान्तिकारी व्यायाम करती है, वह सीधी चोट सिखाती है, वह अचानक धावा कर शासन पर क़ब्ज़ा करना चाहती है, आदि, आदि। यही नहीं, उसके लेखों के लिए सभी पार्टी के अख़बारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। पर रोज़ा ऐसी व्यक्ति नहीं थी, जो निन्दा या रुकावट से घबरा जाय। दिसम्बर १९१३ में उसने मेहरिंग और कारस्की के सहयोग से 'सोशल डिमोक्रैटिक कारेसपौंडन्स' नाम का एक अख़बार निकाला। इस अख़बार को लड़ाई शुरू होने पर सैनिक सेंसर ने बन्द कर दिया। इसमें चालू विषयों पर लिखने के साथ ही रोज़ा ज़्यादा सैनिक विषयों पर लिखती, जिसमें उसने अब विशेषता हासिल कर ली थी।

फिर क़ानूनी शिकंजे में

एक ओर कौट्स्की आदि उसके पुराने साथी उस पर जो तुहमतें लगा रहे थे, उससे अवश्य ही सरकार को रोजा के पकड़नेका प्रोत्साहन मिल रहा था, तो दूसरी ओर उसके फ़ौजी विषयों पर लिखे गये लेख फ़ौजी अधिकारियों को तिलमिला रहे थे। अतः फरवरी १९१४ में, फिर एक बार रोज़ा को कचहरी के कठघरे में खड़ा होना पड़ा। इस मुक़दमें का आधार एक व्याख्यान था, जिसमें उसने कहा था—"अगर वे कहते हैं कि तुम फ्रांसीसी या दूसरे विदेशी भाइयों पर गोली चलाओ, तो उनसे कह दो—नहीं, ऐसा हो नहीं सकता!" रोज़ा के वकीलों ने यह सिद्ध कर दिया कि उस पर मुक़दमा चलाने लायक़ आधार नहीं हैं, किन्तु, सरकारी वकील ने कोर्ट से दरख़ास्त की कि रोज़ा को जरूर सज़ा दी जाय, एक वर्ष से कम की सज़ा न हो और उसे तुरत ही गिरफ़्तार करके जेलमें रख दिया जाय। सिर्फ़ विचारों के लिए एक वर्ष की सज़ा जर्मनी में बिस्मार्क के समय में ही मिला करती थी! किन्तु, इस सज़ा के नाम पर रोज़ा विचलित नहीं हुई। उसने अपने व्याख्यान को क़बूल किया, इसकी व्याख्या करके उसका महत्व कम करने की कोशिश नहीं की, बल्कि, उल्टे उसने जर्मन सरकार और क़ैसर की युद्धनीति की आलोचना करते हुए बताया कि युद्ध का फ़ैसला न शासक वर्ग के हाथ में है, न सेना के हाथ में। मजदूर ही उसका फ़ैसला दे सकते हैं कि वे युद्ध में शामिल हों या न हों। अगर मजदूरों ने यह निर्णय किया कि युद्ध एक दानवी, अनैतिक और प्रतिक्रियावादी चीज़ है, तो फ़ौज़ अपने अफ़सरों की बात भले ही मानती चले, लड़ाई हो नहीं सकती, जीती नहीं जा सकती। तुरत गिरफ़्तार करके जेलमें भेजे जाने के बारे उसने कहा—

“ सरकारी वकील का कहना है कि मुझे तुरत गिरफ़्तार करके जेल भेजा जाय, क्योंकि हो सकता है मैं फ़रार हो जाऊँ। इसका मतलब यह है कि स्वयं सरकारी वकील समझते हैं कि अगर उन्हें एक वर्ष की सजा मिलती, तो वह भाग खड़े होते। वह ऐसा कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है, किन्तु, एक समाजवादी ऐसा कर नहीं सकता। समाजवादी अपनी बात पर अड़ा रहेगा और तुम्हारी सज़ाओं पर ठट्ठा मार हँसेगा !”

उसे एक वर्ष की सज़ा दी गई, किन्तु, उसे वहीं गिरफ़्तार नहीं किया गया। कचहरी से वह सीधे फ्रैंकफ़ोर्ट के मज़दूरों की विराट सभा में गई। जहाँ उसने अपनी बातों को और भी ज़ोरदार शब्दों में दुहराया और कहा कि संघर्ष अभी शुरू ही हुआ है। इस सज़ा ने देशभर में असन्तोष पैदा किया और रोज़ा को भिन्न भिन्न जगहों से निमंत्रण आने लगे। उन भाषणों में रोज़ा ने वर्ग–अन्याय, सैनिकवाद और शीघ्र ही छिड़नेवाले साम्राज्यवादी युद्ध पर विस्तृत प्रकाश डाल मज़दूरों को अगामी ख़तरे से सावधान किया।

सैनिकता के विरोध में चारों ओर से आवाजें उठने लगीं। जर्मनी की फ़ौज के उस समय चार हिस्से थे। स्थायी सेना, सुरक्षित सेना, और पुराने सैनिकों के दो और हिस्से, जिन्हें वक्त–वक्त पर फ़ौजी पाबंदियों का पालन करना पड़ता था। इन्हीं पुराने सैनिकों के कुछ लोगों को छोटेसे अपराध के कारण एटफ़र्ट की अदालत ने कड़ी सजायें दीं। रोज़ा ने इन सैनिकों के समर्थन में जबर्दस्त लेख लिखकर बताया कि जर्मनी के फ़ौजी बारकों में किस तरह अमानुषिक व्यवहार किया जाता है। जर्मनी के युद्ध–मंत्री ने इस पर रोज़ा के ख़िलाफ़ फ़ौज के अपमान का अभियोग लगाकर मुक़दमा चलाया। रोज़ा तैयार थी ही। उसने अपने डिफेंस की गवाही के लिए सैनिकों से गवाही देने की अपील निकाली। तीस हज़ार सैनिकों ने अपने नाम दिये। यह देखकर युद्ध सचिव का होश ठंढा हो गया। मुक़दमा जारी रहा, किन्तु, उसकी गति ऐसी धीमी हो गई कि उसका महत्व जाता रहा।

१९१४, जून में रोज़ा ने बर्लिन की पार्टी–मीटिंग में फिर राजनीतिक हड़ताल का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव को लेकर सरकारी वकील फिर आगे बढ़ा। उसने रोज़ा और उस प्रस्ताव के सभी समर्थकों पर मुक़दमा चलाया। वह तो यहाँ तक चाहता था कि जितने लोगों ने उसपर वोट दिये, सब पर मुक़दमा चलाया जाय। यह स्पष्ट था कि जर्मनी की सरकार क्रान्ति का गला घोंटने को तैयार बैठी है। वह अब लक्ष्य

देखती है, साधन नहीं। चाहे जैसे भी हो, वह क्रान्ति को पहले से ही कुचलकर आगामी युद्ध में निश्चिन्त बन जाना चाहती थी। लैसेल के बाद किसी भी राजनीतिक नेता पर सरकार इस तरह हाथ धोकर नहीं पड़ी थी!

अपने ख़राब स्वास्थ्य और लम्बी सज़ा की सम्भावना के लिए रोज़ा को ज़रा भी परवाह नहीं थी। वह समझती थी कि उसने अपने कर्तव्य का पालन कर लिया और ये मुक़दमें उसकी सेवाओं की स्वीकृति के लक्षण हैं। किन्तु, उसे चिन्ता इस बात की थी कि जो तूफ़ान आनेवाला है, उसमें पार्टी का नेतृत्व उनके हाथों में होगा, जिनमें न हिम्मत है, न नैतिक बल। उसे अशा थी, तो नई पीढ़ी पर, जिस पीढ़ी को उसने ख़ुद लिखा-पढ़ा कर तैयार किया था और जिसका नेता कार्ल लिब्तक्नेख्त था। कार्ल की उम्र रोज़ा से थोड़ी ही कम थी, किन्तु पढ़ने-लिखने और वकालत में कुछ वक्त देने के कारण वह बहुत दिनों तक राजनीतिक क्षेत्र में प्रमुखता नहीं प्राप्त कर सका था। वह जर्मनी के सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता विल्हेल्म लिब्तक्नेख्त का सुपुत्र था। जब वह राजनीतिक क्षेत्र में आया, बहुत दिनों तक वह उन पूर्व धारणाओं और अविश्वासों का शिकार बना रहा, जो बड़े लोगों के बेटों पर साधारणतः लोगों के मन में होते हैं। उसकी तेजस्विता, स्वतंत्रता और अधिक परिश्रमशीलता देख बूढ़े नेता उससे शुरू से ही भय खाते और उसे दबाने की कोशिश करते रहे। किन्तु रोज़ा इन्हीं गुणों के चलते उसकी क़द्र करती थी और थोड़े दिनों में ही उसने मान लिया कि वह एक पक्का क्रान्तिकारी है, जिसके साथ काम किया जा सकता है। कार्ल रूस की क्रान्ति में भी क्रियात्मक दिलचस्पी लेता था और वह सिर्फ़ बौल्शेविकों का क़ानूनी प्रतिनिधि ही नहीं था, बल्कि उनके ग़ैर क़ानूनी कामों में भी उनके साथ था। इस सूत्र ने रोज़ा को और भी कार्ल के नज़दीक़ ला दिया। फिर, दोनों को सैनिकवाद से घृणा थी और सैनिकता के ख़िलाफ़ दोनों एक दूसरे के पूरक थे। रोज़ा सिद्धान्त देती, कार्ल उसे काम में लाता। युद्ध के कुछ वर्ष पहले, युद्ध के दर्म्यान और क्रान्ति के प्रारंभिक दिनों में दोनों ने कंधों से कंधे भिड़ाकर काम किया और दोनों ने एक साथ ही हत्यारों के हाथों से शहादत प्राप्त की!

: ६ :   १९१४ का विश्वयुद्ध

प्रलय-शंख बजा !

१८ जून को यूरोप के बारूदघर में चिनगारी लगी। सर्विया के राष्ट्रवादियों ने आस्ट्रिया के युवराज फ्रांज़ फ़र्डिनैंड की हत्या कर दी—उसकी पत्नी के साथ। इससे जो उत्तेजना फैली, वह ख़त्म होने जा रही है, ऐसा मालूम होता था कि २३ जुलाई को अचानक आस्ट्रिया ने सर्विया को चुनौती भेजी। यह चुनौती सात बार लिखी और फाड़ी गई थी, जिसमें ऐसी कोई चीज़ इसमें नहीं रह जाय, जिससे समझौते की झलक दिखाई पड़े। इस चुनौती के पीछे जर्मनी था, जो इँग्लैंड को किसी तरह युद्ध के मैदान में उतारना चाहता था। इसके दो दिनों के बाद ही सर्विया पर युद्ध की घोषणा कर दी गई। २८ को रूसने सर्विया की मदद के लिए अपनी फ़ौज को तैयार रहने का हुक्म जारी किया।

२८—३० जुलाई को बेलजियम की राजधानी ब्रुसेल्स में दूसरी इन्टरनेशनल के ब्यूरो की बैठक हुई, जिसमें यूरोप भरके समाजवादी और मज़दूर नेता एकत्र हुए—रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग, जीन जौरे, गीदे, एक्ज़ेल्रौड, विक्टर एलडर, कियरहार्डी, हैस्स, कौट्स्की, ग्रिम, मोरगरी, ऐंगिलिका, बालबैनोवा, आदि, इस बैठक की जो कार्रवाई मालूम है, उससे उपस्थित लोगों के बहुमत का अंधापन, अज्ञान, निस्सहायावस्था और अयोग्यता साफ़ प्रगट है। उनकी एक ही आशा थी कि कोई आकस्मिक चमत्कार, कोई जादू होकर रहेगा। आस्ट्रिया की सोशलिस्ट पार्टी के नेता ऐडलर ने १९१२ में बड़े जोरों से कहा था—"यदि लड़ाई शुरू हुई, यह अपराध इन पूँजीपतियों ने किया, तो मैं कहता हूँ, आप से आप, हाँ, आपसे आप, इन बदमाशों का शासन ख़त्म हो जायगा।" अब वही ऐडलर तुतलाते हुए कह रहा था—"हम से कोई उम्मीद मत रखिये। हमारे यहाँ लड़ाई शुरू हो गयी। मैं यहाँ भाषण करने नहीं आया हूँ, आपको सच्ची बात की सूचना देने आया हूँ। वह सच्ची बात यह है—जब लाखों आदमी युद्धस्थल की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, जब फ़ौजी क़ानून का दौरदौरा हो चुका है, तब हमारे यहाँ कोई भी काम का होना संभव नहीं रह गया है!"

इस बैठक में जो प्रस्ताव पास हुआ, उस में सिर्फ़ इतना ही कहा गया कि युद्ध के ख़िलाफ़ और शान्ति के पक्ष में प्रदर्शन किये जायँ, तथा यह माँग की जाय कि आस्ट्रिया और सर्विया का यह झगड़ा पंचायत से तय किया जाय। भला इस दिवालियापना का भी कुछ ठिकाना था ? जब आग लग चुकी थी, ये कुआँ खोदने जा रहे थे !

रोज़ा ने इस में क्या कहा था, इसकी कोई छपी रिपोर्ट नहीं है। किन्तु, इस बैठक के बाद ब्रुसेल्स में जो मज़दूरों की एक बड़ी सभा हुई, उसका वर्णन करते हुए बालानोवा ने लिखा है कि जब चारों ओर निरुत्साह और निराशा का वातावरण छाया हुआ था, और ऐसा आदमी एक पराजित व्यक्ति की तरह अपने हाथों को लाचारी से हवा में हिला रहा था, उसकी बोली में न वह पुरानी आग थी, न गर्मी—तब "थोड़ी देर के लिए उस सभा में आत्मविश्वास और उत्साह उस समय देखा गया जब रोज़ा व्याख्यान देने को उठ खड़ी हुई।"

३१ जुलाई को आस्ट्रिया और रूस ने अपनी सेनाओं को पूरी तैयारी का हुक्म दिया। इस पर जर्मनी ने रूस को ११ घंटे का अल्टीमेटम लिख भेजा। अनिश्चितता के वातावरण में, घंटे घंटे सभी प्रमुख नेताओं की गिरफ़्तारी की प्रतीक्षा में, जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की केन्द्रीय कमिटी यह तय करने को बैठी कि लड़ाई के ख़र्चे के बजट पर उसके प्रतिनिधि पक्ष में वोट दें या विपक्ष में। बड़ी बहस के बाद यह तय हुआ कि पार्टी की ओर से हरमैन मुलर को फ्रांस भेजा जाय और जो कुछ किया जाय फ्रांसकी समाजवादी पार्टी से मिलजुल कर, एक ही ढंगसे काम हो।

किन्तु, फ्रांस में एक अजीब घटना घट चुकी थी। ३१ जुलाई को ही पेरिस में जौरे का ख़ून कर दिया गया था। इस ख़ून ने फ्रांस की समाजवादी पार्टी का होश फ़ाख़्ता कर दिया। बेलजियम पार्टी का प्रतिनिधि भी इस परामर्श में शामिल हुआ। दोनो देशों के प्रतिनिधियों ने अंतर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग के स्वार्थ को ताक पर रख कर अपने देशों की रक्षा की ओट में इस साम्राज्यवादी युद्ध का एक हिस्सा बनना ज़ाहिर किया ! उस तरफ़ यह सलाह मशविरा चल रहा था, इधर जर्मनी ने रूस पर युद्ध की घोषणा कर दी और सारे यूरोप में अग्नि-ज्वाला धधक उठी। ३री अगस्त को जर्मनी की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी ने तय किया कि लड़ाई के ख़र्च के पक्ष में उसके प्रतिनिधि वोट दें। कार्ल लिब्तक्नेख़्त भी राइख़्टाग का

मेम्बर था। वह और उसके दूसरे चौदह साथियों ने इसके विरोध में वोट देने की सलाह दी, किन्तु, उनकी बात नहीं चली। पार्टी ने अनुशासन के नाम पर उन्हें वोट देने को लाचार किया। उसके १११ मेम्बरों ने युद्ध के पक्ष में वोट देकर मानों पार्टी के दिवालियापन की पहली नोटिस निकाल दी!

जर्मनी की पार्टी के इस काम से अंतर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग में अजीब खलबली मच गई। किसी को इस पर विश्वास नहीं होता था। रूमानिया की समाजवादी पार्टी ने इस रिपोर्ट को 'राक्षसी झूठ' माना। लेनिन ने जब "वोरवार्ट" मे यह रिपोर्ट पढ़ी, उसने समझा कि यह पूरा अंक ही जाली है, जर्मन सरकार के फ़ौजी विभाग ने यह जालसाज़ी की है। सब लोग जानते थे कि दूसरे देशों की पार्टियों के पतन से इन्टरनेशनल को धक्का ज़रूर लगेगा, किन्तु, जर्मनी की पार्टीका पतन तो सम्पूर्ण मज़दूर वर्ग को राष्ट्रीयता की गोद में जाने को वाध्य करेगा। जर्मन पार्टी के बारे में लोगों की ऐसी धारणा थी कि इस सच्ची रिपोर्ट पर जहाँ किसी ने विश्वास नहीं किया, वहाँ इस झूठी अफ़वाह पर सब को तुरत विश्वास हो गया कि जर्मन सरकार ने रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग और कार्ल लिब्तक्नेख़्त को फ़ौजी क़ानून के मुताबिक तोप पर उड़ा दिया है!

बग़ावत का झंडा

जर्मन सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के इस निर्णय ने ज़िन्दगी में पहली बार रोज़ाके हृदयमें निराशा पैदा की। क्या इतने दिनों की उसकी मेहनत व्यर्थ गई? इतना प्रचार, इतना हाड़तोड़ परिश्रम, क्या इसी दिन के लिए? वर्षों की जाँफ़िसानी कुछ घंटोंमें ही ख़त्म? थोड़ी सी दृढ़ता दिखाई गई होती तो एक बात। कहाँ मज़दूर-राज का स्वप्न और कहां साम्राज्यवादी भेड़ियों की ख़ूंरेजी में शामिल होना।

लेकिन, ऐसे मौक़ों पर निराश होकर हाथ पर हाथ धरकर बैठना—रोज़ा के स्वभाव और आदर्शवाद के विरुद्ध था। ठीक, जिस दिन पार्टी के नेताओं ने जर्मनी के सेना-विभाग से गठबंधन किया, ४ अगस्त की शाम को समाजवादियों का एक छोटा गिरोह रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के घर पर इकट्ठा हुआ और उसने तय किया कि साम्राज्यवादी युद्ध और उसके संबन्ध की पार्टी की नीति के ख़िलाफ़ वह अपनी आवाज़ उठायेगा—बग़ावत के झंडे को लहराता हुआ रखेगा। उस गिरोह में फ़्रांज़ मेहरिंग था, जो अब बूढ़ा हो चला था, पौललिनौख़ था और था जुलियन

कार्स्की। क्लारा ज़ेटकिन ने स्टट्गार्ट से लिख भेजा, वह भी इस गिरोह के साथ है। थोड़े दिनों के बाद कार्ल लिब्तक्नेख्त भी उसमें दाख़िल हुआ। बर्लिन, सैक्सनी, राइनलैंड, रूहर, हैम्बुर्ग आदि औद्योगिक स्थानों में पार्टी के ऐसे सदस्य थे, जो पार्टी के इस आत्मसमर्पण से सहमत नहीं हो सकते थे। वे लोग भी इस गिरोह में आ जुटे।

आगे चलकर यही दल 'स्पार्टकस लीग' के नाम से मशहूर हुआ—उसके लाल झंडे को रोज़ाने अपने ख़ून से रँगकर और लाल बनाया।

इसके बाद के महीने रोज़ा और उसके साथियों के लिए बड़ी कठिनाई के साबित हुए। दिन दिन ऐसी ख़बरें आती गईं, जो निराशा और उदासी को और भी बढ़ा देने वाली थीं। समाजवाद और समाजवादी सिद्धान्तों का झंडा वे लोग पैरों से ठुकरा रहे थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि यह युद्ध राष्ट्रीय आत्मरक्षा का युद्ध नहीं है, इसमें सभी बड़े बड़े राष्ट्रों के अपराध का हिस्सा है, यह युद्ध सम्राज्यवादी असंगतियों और विरोधों का नतीजा है। सैकड़ों बार वे लोग चिल्ला चुके थे कि युद्ध शुरू होते ही, नतीजे पर बिना ख्याल किये हुए, वे इसके विरोध में जान लड़ा देंगे। अब वे ही लोग अपने अपने देशों के राज्यों से समझौता करके अपनी बहनों को कारख़ाने की ग़ुलामी के जुएँ में जोत रहे थे और अपने भाइयों को तोप की ख़ूराक बनाने के लिए सेना-विभाग के हाथ में सौंप रहे थे!

समाजवादी ख़ेमे से भागने वालों का तांता लग गया था। मोर की तरह छैला बना स्वाईडमैन अब देशभक्ति की तान लगा रहा था; सुडेकम जर्मन-साम्राज्य-वाद की ओर से विदेशों में प्रचार कर रहा था, बड़े बड़े मज़दूर नेता थाइसेन और स्टीनेस ऐसे ख़ूंख्वार पूँजीपतिओं के घर भोज खा रहे थे! जर्मनी की ही क्या बात? रूस में मार्क्सवाद का सर्व प्रथम झंडा उड़ानेवाला प्लेख़नौव, जो हमेशा ही युद्ध के विरोध में क्रान्तिकारी विद्रोह का झंडा उड़ाने की बातें करता था, अब जर्मनी की बर्बरता के ख़िलाफ़ जारशाही का झंडा कंधे पर लिये घूम रहा था! जौरे शहीद हो चुका था और गीदे मार्क्सवाद का कट्टर अनुयायी होते हुए भी फ्रांसीसी सरकार के मंत्रिमंडल का एक सम्माननीय सदस्य बन चुका था! इंगलैंड, आस्ट्रिया और बेलजियम से भी कुछ उत्साहजनक समाचार नहीं आते थे। जर्मनी के दो प्रमुख समाजवादी पारवस और कौट्स्की क्या कर रहे थे? पारवस पिछले बालकन युद्धमें दलाली कर के ख़ूब धन कमाकर गुलछर्रे उड़ा रहा था और कौट्स्की शब्दजाल में

अपने पराजय को छिपाने की चेष्टा करता हुआ कह रहा था—'इन्टरनेशनल की उपयोगिता युद्ध में नहीं है, वह तो शान्तिकाल की चीज़ हैं'। लड़ाई शुरू होने के तुरत बाद पारवस रोज़ा से मिलने के लिए उसके घर पर आया था, किन्तु, रोज़ा ने उससे भेंट करने से इन्कार कर दिया! मजदूरों को धोखा दो और रोज़ा से दोस्ती निभाओ—यह हो नहीं सकता था!

तोभी, रोज़ा और उसके साथी जोशोख़रोश से काम करते रहे। बर्लिन और दूसरे मज़दूर केन्द्रों में धीरे धीरे इनके काम का असर देखा जाने लगा और युद्ध एवं पार्टी के निर्णय के विरुद्ध आवाज़ें उठने लगीं। किन्तु, इन विरोधी आवाज़ों का प्रकाश में आना बड़ा कठिन था। पार्टी के अख़बार में कुछ छप नहीं सकता; फ़ौज़ी सेंसरके कारण दूसरे अख़बार युद्ध के ख़िलाफ़ कुछ छापने से थर थर काँपते थे। तब रोज़ा ने एक नई तरकीब सोची। पार्टी के राईख्टाग के सदस्यों में से १५ ने बजट के ख़िलाफ़ वोट करने की राय दी थी। सोचा गया था कि अब फिर जब वोट का वक्त आये, तो ये १५ सदस्य विरोध में वोट देकर संसार को बता दें कि युद्ध के ख़िलाफ़ जर्मनी के मज़दूरों की राय अब तक बनी हुई है। इस वोट के दिन ही चारों ओर मज़दूरों का प्रदर्शन हो। यों, राईख्टाग और उसके बाहर का प्रोग्राम बनाकर तैयारियां की जाने लगीं। जबजब युद्ध के लिए नये ख़र्चे की मांग आती थी, राईख्टाग की बैठक बुलाई जाती थी। ऐसा मौक़ा आ गया। तैयारियों में कड़ी मेहनत की गई। बहुत से राइख्टाग के पार्टी-सदस्यों ने वोट देने का वादा किया, किन्तु, जब वक़्त आया सब टाँय टाँय फ़िस्!

हाँ, सिर्फ़ एक आदमी ने अपनी छाती को तना हुआ और सिरको ऊँचा रखा—वह कौन था? वह कार्ल लिब्तक्नेख्त था। एक आदमी ने समूचे राइख्टाग को धता बताया, एक आदमी क़ैसर की शक्तिमत्ता से आंख भिड़ाकर खड़ा रहा, एक आदमी ने संसार को बताया कि जर्मनी में समाजवाद ज़िन्दा है और युद्ध के पागलपन से बचा हुआ है! जिस समय लिब्तक्नेख्त ने अपना हाथ युद्ध के ख़र्चे के ख़िलाफ़ उठाया, एक सनसनी, एक हलचल मच गई। उसका नाम एक प्रतीक, युद्ध के ख़िलाफ एक नारा बन गया! संसार भर में वह फैल गया—युद्ध के मोर्चों पर, खाइयों में पहले हज़ारों, फिर लाखों ने इस नाम को सामने रख कर संसार व्यापी बूचरख़ाने के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद की! २ दिसम्बर, १९१४ की इस घटना ने रोज़ा और कार्ल के संबन्ध को अविच्छेद्य बना दिया!

कार्ल लिब्तक्नेख्त ने जो आदर्श रखा था, उसे व्यापक बनाना था। बिना अखबार के इस काम में बाधा पड़ रही थी। रोजा और उसके साथी इस प्रयत्न में लगे कि किसी तरह एक नया अखबार निकले। कितनी ही निराशाओं और प्रयत्नों के बाद आख़िर १९१५ के अप्रैल में वे 'इन्टरनेशनल' के नाम से एक नया अखबार निकालने में समर्थ हो सके। इसके संयुक्त सम्पादक रोज़ा और मेहरिंग थे और उसके लेखकों में क्लारा ज़ेटकिन, पौल लांग आदि वामपक्ष के समाजवादी नेता थे। मेहरिंग ने युद्ध के बारे में मार्क्स और एँगेल्स के विचारों का विश्लेषण करते हुए साम्राज्यवादी युद्ध पर उन्हें लागू किया। क्लारा जेटकिन ने युद्ध में स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डाला। लांग ने ट्रेड यूनियन नेताओं द्वारा मज़दूरों को जो धोखा दिया गया है, उस पर प्रकाश डाला। रोज़ा ने दो लेख लिखे, एक में इन्टर नेशनल के पुनर्निर्माण पर ज़ोर दिया, दूसरे में कौट्स्की के युद्ध संबन्धी विचारों का खंडन किया। कौट्स्की के बारे में उसने लिखा—कौट्स्की ने मार्क्स के "दुनियाभर के मज़दूरों, एक हो जाओ" की एक नई व्याख्या इस तरह की है—"दुनियाभर के मज़दूरों, शान्ति के समय एक हो जाओ, और लड़ाई के वक़्त एक दूसरे का गला काटो।"

'इन्टरनेशनल' के लेख बड़ी सावधानी से लिखे गये थे, जिसमें सरकारी प्रहार से यह बचा रहे। किन्तु, फ़ौज़ी सेंसर इसके महत्व को अच्छी तरह समझता था और शुरू में ही उसे खत्मकर देना उसने तय किया। सरकारी वकील ने रोज़ा, मेहरिंग और क्लाला ज़ेटकिन पर सम्पादक की हैसियत से, साथ ही उसके मुद्रक और प्रकाशक पर भी "भयानक राजद्रोह" के अपराध में मुक़दमा चालू किया। 'इन्टरनेशनल' को दुधमुँही अवस्था में ही क़त्ल कर दिया गया!

जेल और ज़ुनियस

जिस समय 'इन्टरनेशनल' निकला, रोज़ा दो महीने जेल में बिता चुकी थी। फ्रांकफ़ुर्ट में उसे सज़ा मिली थी, उसके अनुसार उसे ३१ मार्च १९१५ को जेल में जाना था। युद्ध शुरू होने के समय उसका स्वास्थ्य ख़राब था, उसे अस्पताल की शरण लेनी पड़ी थी। इस बीमारी के कारण ही अब तक उसका जेल जाना स्थगित होता आया था, किन्तु, यह जो आख़िरी तारीख़ ठीक की गई थी, तब तक जर्मनी की सरकार उसे बाहर रखना ख़तरे से ख़ाली नहीं समझती थी। १९ फरवरी को वह क्लारा ज़ेटकिन के साथ हॉलैंड जा रही थी, जहां, स्त्रियों की अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस

बैठने जा रही थी। वह अकस्मात गिरफ़्तार कर बर्लिन की बर्निमस्ट्रैसे जेल में रख दी गई। इस जेल के पहले दिन का वर्णन उसने एक दोस्त से यों किया है—

"वे मुझे काली कोठरी में ले गये—किन्तु, वार्सा में इसका अनुभव मुझे पहले हो चुका था। दोनों जगहों में पूरी समता थी। फ़र्क़ यही था कि रूस की पुलिस 'राजबंदी' समझकर मेरी क़दर करती थी, वहां बर्लिन की पुलिस ने कहा कि उसे ज़रा भी परवाह नहीं कि वह क्या है और दूसरे क़ैदियों के साथ बिना किसी भेदभाव वे उस काल कोठरी में मुझे ठूंस दिया। किन्तु, ये तो छोटी बातें हैं, ऐसी घटनाओं को जरा ज़िन्दादिली से लेना चाहिये। इसमें मेरी कोई वीर भावना नहीं। हाँ, एक बात तो है, जब एक ही दिन में दो बार मुझे नंगी करके मेरी ख़ानातलाशी ली गई, तो मेरी आँखों में आँसू आये बिना नहीं रह सके। मैं क्रोध में काँप रही थी और आज भी उसकी याद कँपा देती है। लेकिन, उस रात में जिस चीज ने मुझ पर उससे भी गहरा असर किया, वह दूसरी चीज थी। सोचो, वह क्या चीज़ हो सकती है? मुझे उस रात बिना रात की पोशाक के ही सोना पड़ा, रात की पोशाक की क्या बात, कंघी भी नहीं थी कि बाल सँवारूँ।"

इस बार रोज़ा अनिच्छा से जेल में गई थी। वह समझती थी कि उसकी आवश्कता बाहर है, किन्तु, अपना क्या वश था? जेल में पहुँच कर वह बैठी नहीं; जाते ही अपना काम उसने शुरू कर दिया। सब से पहले "जुनियस पुस्तिका" लिखी, जिसे अप्रैल तक उसने बाहर भेज दिया। इसके बाद एक बार मुलाक़ात के समय उसकी पुलिस से छेड़ छाड़ हो गई। उसने उसके सर पर किताब पटक दी, जिसके लिए अलग सज़ा मिली, सख़्ती बढ़ी।

किन्तु, तो भी, रोज़ा विचलित नहीं हुई—उसने उस समय लिखा था—"मैंने सब कुछ बर्दाश्त करने लायक अपने को बना लिया है, मैं ज़हर की घूँट भी बिना चेहरे पर शिकन लाये ख़ुशी ख़ुशी पी लूँगी, पचा लूँगी।" उसके "पूँजी के संग्रह" पर जो आलोचनायें निकली थीं, उस स्थिति में रहते हुए भी उसने उसका जवाब लिखा और "अर्थशास्त्र प्रवेशिका" पर भी काम किया। कोरोलें-को की आत्मकथा का अनुवाद भी किया। १९१५ के अन्त में बाहर की दुनियासे फिर उसने संबन्ध स्थापित किया और उसके बाद कार्ल लिब्तक्रेख़्त के पास जो उसने ख़त भेजे, वे उसके हृदय की भावनाओं को भली भाँति प्रगट करते हैं।

कार्ल को जेल से ही उसने प्रेरित किया कि वह अब आगे बढ़कर मज़दूरों को राह बताये और उसी की प्रेरणा से जनवरी के शुरू में ही क्रान्तिवादी समाजवादियों की एक बैठक बर्लिन में बुलाई गई। इस बैठक के लिए उसने कुछ हिदायतें लिख भेजी थीं, जो ' स्पार्टकस लीग " के कार्यक्रम के रूप में प्रसिद्ध हुईं।

जनवरी के अंत में वह छूटी, और फ़ौजी तानाशाही के अन्दर जो थोड़ी बहुत आज़ादी बची थी, उसमें साँस लेने लगी। इस बार जेल से वह चौपट स्वास्थ्य लेकर लौटी थी, बाहर जो घटनायें हो रही थीं, उन्होंने उसके ऊपर बुरा असर डाला था। जो जनता को अपने इशारे पर नचाना जानती थी, उसे जनता के सामने जाते झिझक होती थी। किन्तु, धीरे-धीरे यह बात दूर हुई। ख़ासकर, जिन स्त्रियों के बीच उसने काम किया था, वे उसकी भक्त और अनुरक्त बनी रहीं। रोज़ा की रिहाई पर उन्होंने स्वागत का इन्तज़ाम किया, उसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। दोस्त पर दोस्त, साथी पर साथी उसके नज़दीक आने और घेरने लगे और फिर एक बार हम उसे अपनी बची बचाई ताक़त का संग्रह कर कर्मक्षेत्र में तत्पर पाते हैं।

जेल में लिखी यह ' जुनियस '-पुस्तिका क्या थी ? इस पुस्तिका का नाम यों तो " सोशल डिमौक्रैसीपर संकट " था किन्तु, पीछे यह उपर्युक्त नाम से अभिहित हुई। इसी पुस्तिका में ऐसी बातें थीं, जो क़ानून के दायरे में आती थीं, इसलिए रोज़ा के साथियों ने सलाह दी कि वह किसी उपनाम से निकाली जाय। इँग्लैंड में जिस समय जॉर्ज तीसरे का राज्य था उसके और उसके मंत्रियों के ख़िलाफ़ 'जुनियस के पत्र' छपे थे, जिसके लेखकों में बर्क ऐसे आदमी भी थे। जुनियस रोम के ज़माने में आज़ादी का एक बड़ा योद्धा हो चुका है। उसी नाम को बर्क आदि ने इस्तेमाल किया था, अब रोज़ा ने भी उसी की शरण ली। यह पुस्तिका ग़ैरक़ानूनी ढंग से छपवाई गयी थी। विश्वयुद्ध के ज़माने में उसके ख़िलाफ जितनी चीज़ें लिखी गईं, उनमें यह पुस्तिका सबसे ज़बर्दस्त और प्रभावपूर्ण थी, इसमें तो शक ही नहीं। इसकी माँग इतनी हुई कि बार बार इसके गुप्त संस्करण कराने पड़े।

यह पुस्तिका बड़े ही प्रभावशाली ढंग से शुरू होती है। रोज़ा वहाँ एक ऐसी दुनिया का बर्णन कर रही है जहाँ हज़ारों की हत्या और ख़ून लोगों का रोज़ाना पेशा हो चुका है; जहाँ जनता की हड्डियों के खंडहर पर व्यापार के महल तैयार हो रहे हैं; जहां देशभक्ति के नाम पर एक ओर युद्धभूमि में जानें दी जा रही हैं और दूसरी ओर लड़ाई से मुनाफ़े उठाने के लिए दौड़ धूप जारी है। देश के

देश सत्यानाश में मिल रहे हैं और सभ्यता का पुतला धूल में लोट रहा है। पूंजीवाद आज नंगा नृत्य कर रहा है—संस्कृति और दर्शन, सदाचार और मनुष्यता, कानून और न्याय की जगह नृशंस अराजकता, खूनी राक्षसता और भीषण संहार ने ले ली है। आगे वह समाजवादी नेताओं को ज्वलंत शब्दों में वर्णन करती हुई, समाजवादी कार्यकर्ताओं को फटकारती है, जो झूठे नेताओं के फेर में पड़कर साम्राज्यवादी नगारे की चोट पर उछलते और जान दे रहे हैं। जुनियस की तरह इसके वाक्यों से कोड़े की कड़क की आवाज़ आती है, उसके शब्द चिनगारी की तरह फफोले उगाते हैं।

उसने यह भी बताया कि मार्क्स और ऐंगेल्स के ज़माने की बातें आज लागू नहीं हो सकतीं। मार्क्स और ऐंगेल्स ने कहा था कि युद्ध होने पर मज़दूरों को उस पक्षकी तरफ़दारी करनी चाहिये जिसकी जीत से मानवी संस्कृति का अधिक विकास हो सके और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग का जिससे कल्याण सध सके। किन्तु, आज दोनों पक्ष जिस विजय के लिए लड़ रहे हैं, उससे नये उत्पीड़न और शोषण की वृद्धि होगी और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग के स्वार्थ को कुचला जायगा। इसलिए संसार के मज़दूरों को दोनों में से किसी का भी साथ नहीं देना चाहिये, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन करके साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ खड़ा होना चाहिये।

उस समय जर्मनी की जीत पर जीत हो रही थी। उसने भविष्यवाणी की कि आस्ट्रिया और टर्की का पतन अवश्यम्भावी है और रूस भी उसके साथ ही धँस कर रहेगा। जापान और इंग्लैंड में उस समय दोस्ती थी, उसने कहा, चीन को लेकर एक-न-एक दिन इनमें झगड़ा होगा ही। मज़दूरों के क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के अभाव में जो शान्ति होगी, चाहे कोई भी जीते, वह मज़दूरों के लिए नुक़सानदेह और ख़तरनाक होगी। एक ही रास्ता है—युद्ध के दर्म्यान और भी ज़ोरों से वर्ग संघर्ष शुरू किया जाय। उसने इन शब्दों में पुस्तिका को ख़त्म किया है—

"साम्राज्यवादी राक्षसता आज यूरोप की सरज़मीन को श्मशान बनाने पर तुली हुई है। संस्कृति की पुकार लगानेवाले लोग चुपचाप बैठे हैं, क्यों? क्योंकि वे जानते हैं कि इसमे ज़िब्ह हो रहे हैं यूरोप के मज़दूर, जिनके लिए उनके दिल में न कभी दर्द था और न है। हमारी आशा, हमारा माँस और खून, हमारे सगे-सहोदर तलवार के घाट उतर रहे हैं—जैसे गाजर मूली काटी जा रही हों! अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के बढ़िया से बढ़िया, तेज से तेज़, सुशिक्षित और सुसज्जित

सैनिक—मज़दूर आन्दोलन की वीरतापूर्ण धरोहर के थातीदार, संसार के मज़दूर वर्ग के झंडे को उड़ाने और बढ़ाने वाले—इँग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और रूस के मज़दूर बूचरख़ाने में ज़िब्ह किये जा रहे हैं। गिरिजाघरों के ध्वस्त होने, संग्रहाल्यों के पस्त होने से बढ़कर यह क़सूर है, जिसे क्षमा नहीं किया जा सकता। जिन हाथों में मानवता का भविष्य है, जो अतीत की देन की रक्षा करके उसे नये और सुन्दरतर समाजतक पहुँचाते, वे हाथ आज एक-एक कर कट रहे हैं। पूँजीवाद का सच्चा रूप प्रगट हो गया—उसने सिद्ध कर दिया कि अब उसकी स्थिति का कोई ऐतिहासिक कारण नहीं रह गया, वह मानव कल्याण को आगे नहीं बढ़ने दे सकता......

"प्रजातंत्र की जय हो, जर्मनी की जय हो, ज़ार की जय हो, स्लाव जाति की जय हो! दस हज़ार कम्बलें बिल्कुल दुरुस्त हालत की; एक लाख चीनी और काफ़ी के डब्बे—तुरत हमसे लीजिये! मुनाफ़े की लूट है, मज़दूरों की मृत्यु है! और ये मरने वाले—भविष्य के योद्धा, क्रान्ति के सैनिक, मानवता के त्राता—अरे बेठिकाना इनका मज़ार है!

"यह पागलपन तभी दूर होगा, यह नारकीय ख़ूनख़राबी तभी बंद होगी, जब जर्मनी, फ्रांस, इँग्लैंड, रूस के मज़दूर नशे से दूर होंगे, होश में आयँगे, एक दूसरे से हाथ मिलायँगे और साम्राज्यवादी भेड़ियों की चीख़ को आधुनिक मज़दूर आन्दोलन के सिंहनाद से ढक लेंगे—संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ!"

यह पुस्तिका लिखे जाने के एक वर्ष बाद छपी। ज़रूरी समझा गया कि उसके साथ ही क्रान्तिकारी मज़दूरवर्ग के आगे के काम के लिये उसमें उन हिदायतों को भी छाप दिया जाय, जिन्हें रोज़ा ने अपनी जेल-ज़िन्दगी के अन्त में लिखा था!

इन हिदायतों में यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया था कि सिर्फ़ शान्ति शान्ति का शोर मचाना और अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत, निरस्त्रीकरण, समुद्रों की स्वतंत्रता और राष्ट्रसंघ आदि की बातें करना कोरी काल्पनिकताही नहीं, बल्कि प्रतिक्रियावादिता भी है, और जो ऐसी बातों पर कौट्स्की आदि के फेरे में तकिया किये हुए हैं, वे धोखे की ओर जा रहे हैं.—

"साम्राज्यवाद, जोकि पूँजीवादी शासन का अन्तिम विकसित रूप है, संसार भरके मज़दूरों का जानी दुश्मन है।......साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष

करना एक ही साथ मज़दूरों के लिए राजनीनिक शक्ति हासिल करने और पूँजीवाद पर समाजवाद की अन्तिम विजय करने के लिए संघर्ष करना है। समाजवाद का अन्तिम उद्देश्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग सम्पूर्ण साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दे और अपना नारा रखे—"लड़ाई के ख़िलाफ़ लड़ाई" इस लड़ाई में सुलह नहीं हो सकती और बलिदान की पूरी ताक़त और योग्यता का प्रदर्शन करना होगा।"

इस हिदायतनामें में संगठन के बारे में भी स्पष्ट उल्लेख था। एक नई इन्टरनेशनल क़ायम की जाय, उसके विधान में अनुशासन पर ज़्यादा जोर दिया जाय। यह सिर्फ़ शान्ति के ज़माने में ही काम नहीं करे, बल्कि युद्ध के ज़माने के लिए भी एक आम कार्य पद्धति तय करे। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के नाम पर जो मज़दूरों को धोखा नहीं दे—क्योंकि "सच्ची राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा तभी होगी, जब संसारके मज़दूरवर्ग साम्राज्यवाद से लड़ाई छेड़ देंगे। मजदूरों की पितृभूमि उनका अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है और उसकी रक्षा के बाद ही कोई दूसरी बात सोची जा सकती है।"

जब सुधारवादियों और तथाकथित मार्क्सवादियों ने इस हिदायत पर चींचपड़ शुरू की, तो रोज़ा ने, जेल से निकलने के बाद घोषित किया—

"मज़दूरों का आन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा संसार भर में सब से बड़ी चीज़ है। यही मेरी जिन्दगी का ध्रुवतारा है, यही मेरा सर्वोत्तम आदर्श है, यही मेरी यथार्थ पितृभूमि है! मैं अपनी ज़िन्दगी क़ुरबान कर दूँगी, किन्तु, इस आदर्श के प्रति अभक्ति नहीं दिखलाऊँगी!"

झंडा उड़ता रहा!

रोज़ा जेल में थी और बाहर लड़ाई जारी थी। सिर्फ़ मरने और घायल होनेवालों की तादाद ही नहीं बढ़ रही थी, अभाव बढ़ रहा था, भूख बढ़ रही थी, और बढ़ता जा रहा था जनता का नैतिक पतन। पहले सोचा जाता था, लड़ाई तुरत ख़त्म होगी, किन्तु, हर विजय या पराजय लड़ाई को और ज़ोरदार बनाती थी। सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के नेताओं की बुद्धि दिन दिन भ्रष्ट होती जाती थी और राष्ट्रीयता का बोलबाला था। १९१५ में जर्मनी की जीत निश्चित मालूम होती थी, और वही वर्ष समाजवादी आदर्श के लिए सबसे काला वर्ष था।

किन्तु, रोज़ा के अनुयायी अपने बग़ावत के झंडे को फहराये जा रहे थे। रोज़ा के नहीं रहने से दिक़्क़तें थीं, वह ताक़त और हिम्मत नहीं दिखाई देती थी, तोभी, जितना हो सकता था, किया जा रहा था। जून में आशा की एक नई किरण देखी गयी, पार्टी के एक हज़ार पदाधिकारियों ने केन्द्रीय कमिटी के पास एक अर्ज़ी भेजी, जिसमें उसकी नीति की निन्दा की गई थी और आगे के लिए सच्चे नेतृत्व के लिए मांग की गयी थी। किन्तु, इसका कोई असर न हुआ, नेतृत्व अपनी गद्दी पर बैठा रहा और अनुयायी सिर्फ़ मुँह ताकते रहे। क्लारा जेटकिन ने, मार्च में, बर्न में एक अन्तर्राष्ट्रीय महिला-सम्मेलन बुलाया, किन्तु, उसमें सफलता नहीं मिली। हाँ, जब ज़ीम्मरवाल्ड में, सितम्बर महीने में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन हुआ, तो उसे जर्मनी के इस विरोध पक्ष को बहुत बल मिला। अक्टूबर में हम बर्लिन और दूसरे शहरों की सड़कों पर औरतों के प्रदर्शन महँगी और अभाव के ख़िलाफ़ देखते हैं। स्त्रियों के ये प्रदर्शन साबित कर रहे थे कि क़ैसर की बन्दूक़ और पार्टी-नेताओं की नपुंसकता के बावजूद अभी लोगों के हृदय में आदर्श की चिनगारी बाक़ी है।

रोज़ा के अनुयायियों को पकड़ पकड़ कर युद्ध के मोर्चे पर भेजा जा रहा था। कार्ल लिब्तक्नेख्त राइख्टाग का मेम्बर था, तो भी उसे वर्दी पहना कर युद्धक्षेत्र में भेज दिया गया। सिर्फ़ जब-जब राइख्टाग की बैठक होती, वह वहाँ से वापस आता और उसमें सवाल-पर-सवाल करके युद्ध के साम्राज्यवादी रूप और फ़ौजी नेताओं के कारनामों का भंडाफोड़ करता। उसने कुछ पैम्फलेट भी छपवाये, जिनसे बड़ी सनसनी फैली। उनमें से एक पैम्फलेट शुरू होता था—"सबसे बड़ा दुश्मन हमारे घर में है!" जो मोर्चे पर नहीं भेजा जा सके, उन्हें पकड़ कर क़ैदख़ाने में रख दिया गया। क्लारा जेटकिन ७ जुलाई को गिरफ़्तार की गई और अक्टूबर में छूटी, तो सख़्त बीमार होकर। बर्लिन में विल्हेम पीक, अर्न्स्ट मेयर आदि गिरफ़्तार कर कई महीने तक जेल में बन्द रखे गये।

जब रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग एक वर्ष की सज़ा काटकर रिहा हुई; उसके दल और अनुयायियों में नई जान आ गई। लिब्तक्नेख्त और लुक्ज़ेम्बुर्ग की सम्मिलित उपस्थिति ने एक नया उत्साह पैदा किया। १९१६ के मार्च में एक कान्फ्रेंस इन दोनों ने बुलाई, जिसमें सभी औद्योगिक केन्द्रों के काफ़ी प्रतिनिधि आये। इस कान्फ्रेंस ने सिद्ध किया कि इन लोगों ने एक वर्ष पहले जो बग़ावत का झंडा उड़ाया

था, वह व्यर्थ नहीं गया । इसके थोड़े ही दिनों के बाद अप्रैल में समाजवादी युवक सम्मेलन ज़ेना में, गुप्त रूप से, किया गया । युवकों ने सर्व सम्मति से इन लोगों का साथ देना तय किया । आन्दोलन के बढ़ने से रोज़ा के कन्धों का बोझ भी बढ़ता जा रहा था । लगातार पत्रव्यवहार करना, कार्यकर्ताओं को समझाना बुझाना, बहस करना, और संगठन को मज़बूत बनाने के लिए प्रान्तों में दौरे करना–किन्तु, खराब स्वास्थ्य रहने पर भी रोज़ा खुशी खुशी इन कामों को करती जाती । काम ही तो उसका जीवन था ।

इनके अतिरिक्त उसके सामने एक और बड़ा काम था, जिन्होंने धैर्य खो दिया है, उन्हें क़ाबू में रखना । उनमें से बहुत लोग समझ रहे थे कि अब वैसी पार्टी में रहने से क्या फ़ायदा, जिस पार्टी ने अपनी बागडोर सेना विभाग के हाथ में सौंप दी है, जो अपने सदस्यों के जनतंत्रात्मक अधिकार को क्रमशः नष्ट करती जाती है, जो अपनी शाखाओं के अखबारों पर उनका नियंत्रण नहीं रहने देती, जो अपने उग्रपंथी सदस्यों को राइख्टाग की शाखा से निकाल बाहर करना अपना एक मात्र कर्त्तव्य मानती है । ऐसे सदस्य चाहते थे कि एक नई और स्वतंत्र पार्टी का संगठन किया जाय, किन्तु, रोज़ा इसकी ज़बर्दस्त मुखालफ़त कर रही थी । वह मानती थी कि एक क्रान्तिकारी पार्टी का संगठन जल्द या देर से करना ही पड़ेगा, किन्तु, जब तक पुरानी पार्टी में सिद्धान्तों को क़ायम रखते हुए काम करने की गुंजायश बची हुई है, तब तक उस पार्टी से हटना उसके सदस्यों के समूह को धोखेबाज़ नेताओं के हाथ में सौंपना है ।

लिब्तक्नेख्त की बेचैनी दूसरे क़िस्म की थी । वह कोई ऐसा काम करना चाहता था, जिससे इस पराजय के वातावरण में एक ज़बर्दस्त उमंग पैदा हो । रोज़ा इस पर राज़ी हुई और यह तय हुआ कि १९१६ के मई-दिवस पर ताक़त की आज़माइश हो जाय । बर्लिन के मज़दूरों में खूब प्रचार किया गया— दिन रात जी तोड़ कोशिश की गई । पुलिस को भी इस बात की गंध मिल चुकी थी । वह प्रदर्शन के स्थान पर भोर से ही अस्त्र-शस्त्र के साथ मुस्तैद डटी थी । किन्तु, आठ बजते-बजते दस हज़ार मज़दूर वहाँ–पोट्स्डैमेर प्लास में–एकत्र हो गये । उसी समय रोज़ा और लिब्तक्नेख्त पहुँचे–लिब्तक्नेख्त फ़ौजी पोशाक में था । इन्हें देखते ही मज़दूरों ने हर्ष-ध्वनि की, जयजयकार किया । लिब्तक्नेख्त चिल्ला उठा—"युद्ध का नाश हो; सरकार का नाश हो!" 'युद्ध का नाश हो, सरकार का नाश हो'—यह नारा वायुमंडल में ध्वनि-प्रतिध्वनि करने लगा । पुलिस उस

ओर दौड़ी, घुड़सवार दौड़े। रोजा रास्ता रोक कर खड़ी हुई, धक्के देकर एक ओर ढकेल दिया गया। लिब्तक्नेख्त को गिरफ़्तार किया गया। मज़दूरों ने लिब्तक्नेख्त को छुड़ाने की कोशिश की। मारपीट शुरू हो गई। जनता की धारायें प्रदर्शन भूमि की ओर बढ़ने लगीं। चारों ओर नरमुंड ही नरमुंड—और उस पर धड़पकड़, मारपीट! यह मारपीट सड़कों तक पहुँची। पुलिस और जनता में खुली मुठभेड़ें होने लगीं। युद्ध शुरू होने के बाद यह पहली बार बर्लिन की सड़कों पर जनता ने युद्ध और सरकार के ख़िलाफ़ खुला प्रदर्शन किया! निष्क्रियता टूटी, क्रियाशीलता ऊपर आई।

लिब्तक्नेख्त ने एक बार फिर अपनी ओर अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरवर्ग का ध्यान आकृष्ट किया। इस कठिनाई के कुअवसर में, जब सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का नैतिक पतन हो चुका था, जर्मनी के मज़दूरों में साहस नहीं रह गया था, जनता ने नेताओं में अपना विश्वास खो दिया था, ज़रूरत थी इस बात की कि कुछ लोग आगे बढ़ें और अपने व्यक्तिगत बलिदान का ज्वलंत उदाहरण रख कर बतावें कि इस स्थिति में भी कुछ किया जा सकता है—इतना किया जा सकता है। कार्ल लिब्तक्नेख्त और रोजा लुक्जेम्बुर्ग ने अपने को खतरे में रखकर एक आदर्श जनता के सामने रखा—एक उज्वल, प्रोत्साहक, जीवंत आदर्श!

लिब्तक्नेख्त की गिरफ़्तारी के बाद जर्मनी भर में लाखों पर्चे छाप छाप कर बाँटे गये। इन पर्चों में से अधिकांश को खुद रोज़ा ने लिखा था। पर्चों में लिब्तक्नेख्त के कार्य का औचित्य बताते हुए उसका अनुसरण करने की ज़बर्दस्त अपील होती थी। लिब्तक्नेख्त ने भी इस प्रचार में मदद की, उसने फ़ौज़ी अदालत के सामने अपने क़सूर को स्वीकार करते हुए, ऐसे बयान दिये, जो क़ैसर के गढ़ पर गोले के काम करते थे। ये बयान, सरकारी मनाही के बावजूद, बड़ी तादाद में छापे और बाँटे गये। हज़ारों नये सदस्य रोज़ा के दल में आ मिले।

२८ जून १९१६ को कार्ल लिब्तक्नेख्त को ढाई वर्ष की सख्त सज़ा दी गई। जिस दिन मुक़दमा शुरू हुआ, बर्लिन के मज़दूरों ने विराट प्रदर्शन किया और जिस दिन सज़ा हुई, बर्लिन के फ़ौज़ी सामान बनाने के कारखानों के ५५००० मज़दूरों ने हड़ताल की। स्टट्टगार्ट में प्रदर्शन हुए और ब्रंस्विक और ब्रिमेन में ज़बर्दस्त हड़तालें हुईं। जिस राजनीतिक हड़ताल के ख़िलाफ़ शान्ति के ज़माने में पार्टी के नेता शोर मचाते थे, वही राजनीतिक हड़ताल इस महायुद्ध के ज़माने में सम्भव

हुई, जब कि हड़ताली मजदूरों को चेतावनी दी गई थी कि हड़ताल करने पर उन्हें क़ैदख़ाने या युद्धभूमि की हवा खानी पड़ेगी !

यह सब काम 'स्पार्टकस' के नाम से किया गया—यह स्पार्टकस क्या है, यहाँ समझ लेना है, क्योंकि अन्ततः यही स्पार्टकस पीछे स्पार्टकस लीग के नाम से प्रसिद्ध होगा। रोम के ज़माने में, वहाँ के 'सुसभ्य' नागरिक निरीह लोगों को अपने खेल के अखाड़े के बीच कटार लेकर खड़े कर देते और उनसे युद्ध कराकर मरने-मारने के तमाशे देखते—ये निरीह लोग 'ग्लैडियेटर' कहलाते। स्पार्टकस नामका एक ग्लैडियेटर था, जिसने इस राक्षसी प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई, ग़रीबों को इसके विरोध में तैयार किया और अन्त में इस अमानुषिक प्रथा का अन्त हुआ। विश्वयुद्ध के रूप में जो निरीह लोगों की यह आपस की ख़ूनख़राबी हो रही थी, उसके विरोध में जो लोग काम करते थे, वे अपने लिए 'स्पार्टकस से बढ़कर दूसरा कौन-सा नाम चुन सकते थे ?

स्पार्टकस लोगों की तादाद कम थी, किन्तु, एक तो रोजा का नेतृत्व उन्हें हासिल था, दूसरे, उनकी बात इतनी सही थी कि हज़ारों, लाखों मज़दूर उसमें अपना त्राण समझते थे। इन प्रदर्शनों और हड़तालों से मालूम हुआ कि जर्मनी के मज़दूरों ने अबतक अपना दिमाग़ खोया नहीं है। किन्तु, जर्मनी के फ़ौज़ी नेता इन बातों को कैसे बर्दाश्त कर सकते थे ? उन्होंने स्पार्टकस के सदस्यों की खोज ढूढ़ शुरू की और उन्हें या तो जेल में या मोर्चे पर भेजना शुरू किया। मोर्चे पर जो लोग गये, उन्हें तो मानो मुँह मांगा बरदान मिल गया। वहाँ फ़ौज़ में भी बग़ावत का झंडा उड़ाना शुरू किया। जब इसकी ख़बर हुई, बड़ी तादाद में वहाँ भी फ़ौज़ी अदालतों में मुक़दमे चलने लगे और लम्बी लम्बी सज़ायें मिलने लगीं। लेकिन इस तरह एक एक कार्यशील कार्यकर्ताओं को चुन लिये जाने के कारण जब लिब्तक्नेख्त की अपील में सजा बढ़ाकर ४ वर्ष कर दी गई, उसके ख़िलाफ़ कोई प्रदर्शन नहीं हो सका। हाँ, वातावरण में लिब्तक्नेख्त के ये शब्द गूंजते रहे— "किसी सेनापति ने इस फ़ख़्र के साथ अपनी वर्दी नहीं पहनी होगी, जिस फ़ख़्र के साथ मैं जेल की यह धारीदार किट पहन रहा हूँ !"

जेल, जेल, जेल

लिब्तक्नेख्त को ४ वर्ष की सज़ा देकर, लुकाओ जेल में, उससे अब जूता गांठने का काम लिया जा रहा है—हाँ, जूता गांठने का काम ! और रोज़ा कहाँ है ?

१० जुलाई को रोज़ा भी गिरफ़्तार कर ली गई और तब से युद्ध ख़त्म होने तक जर्मनी के इस जेल से उस जेल में वह घुमाई जाती रही। बहुत दिनों बाद जनरल वौन रिस्बर्ग ने एक राजनीतिक मुक़दमें में गवाही देते हुए कहा था कि रोज़ा की गिरफ़्तारी सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के राइख़्टाग के एक सदस्य के कहने पर हुई थी।

उसके बाद ही, ७० वर्ष का बूढ़ा फ्रॉंज मेहरिंग गिरफ़्तार किया गया और बहुत दिनों तक आज़ादी भोगकर अर्न्स्ट मेयर भी जेल में आ पहुँचा। जुलियन कारस्की एक कैंप–जेल में सड़ रहा था। किन्तु, स्पार्टकस बिना योग्य नेता के नहीं था। अब उसका सूत्र लिओ जोगिचेस के हाथ में था। उसकी राजनीतिक समझदारी, षड्यंत्रकारी अनुभव, उत्साह और अनुशासन एवं सबसे बढ़कर अनुयायियों को अपने मोहक व्यक्तित्व में बाँधकर रखने की योग्यता से स्पार्टकस का काम, संकट के समय भी, धड़ाके के साथ चलता रहा। अब उसका मुखपत्र "स्पार्टकस ब्रीफ़" साइक्लोस्टाइल के बदले प्रेस पर छपकर बड़ी तादाद में निकलता। उसमें रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग, कार्ल लिब्तक्नेख़्त, फ्रॉंज़ मेहरिंग, जुलियन कार्स्की और अर्न्स्ट मेयर के लेख निकला करते। ये लेख जेल की चहारदीवारी के अन्दर से आते गये। इनके द्वारा जर्मनी के मज़दूरों को सही नेतृत्व मिला करता।

रोज़ा को बाज़ाब्ता सज़ा नहीं दी गई थी-वह सिर्फ़ नज़रबन्द की गई थी। किन्तु, यह नज़रबन्दी थी कि फ्रांस की क्रांति की बैस्टाइल जेल की नवीन आवृत्ति–वह भुक्तभोगी ही जानता था। तीन महीने से ज़्यादा दिनों तक, क़ानून की रू से, किसी को नज़रबन्द नहीं रखा जा सकता था, किन्तु, तीन महीने बीतते बीतते बड़ी समयपरता के साथ नया आज्ञापत्र आकर जेल ही में तामील हो जाता।

पहले वह बर्निम स्ट्रैस की ज़नाना जेल में रखी गई। इस जेल से वह पूर्णतः परिचित थी। भला, यह फ़ौज़ी तानाशाही को कैसे पसन्द होता? वे तो उसे ऐसी जगह रखना चाहते थे, जहाँ से वह बाहर से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। जबतक ऐसी जगह नहीं मिल जाती, उसे बर्निम से हटाकर पुलिस प्रिसिडियम में रखा गया। यह जेल नहीं, हाजत थी। यहाँ सिर्फ़ एक या दो दिन के लिये क़ैदियों को रखा जाता, फिर जेल में भेजदिया जाता। इसलिये वहाँ का इन्तज़ाम हद से ज़्यादा बुरा था। दोपहर में ही वहाँ के सेल अन्धकारमय दीखते। रात में क़ैदियों के लिए सोना मुश्किल था। बरामदे पर बूट का चर्रमर्र, थोड़ी थोड़ी देरपर ताले

और दरवाज़े खोलने की खटखट और रातभर क़ैदियों के आते जाते रहने का शोरग़ुल—भला किसकी आँख लग पाये? नज़दीक ही स्टेशन था, रात में जब गाड़ियाँ आती जातीं, इसकी सारी इमारत थरथर काँपने लगती। "छ हफ़्तों में ही इस जगह ने मेरे सर के काफ़ी बाल उजले कर डाले!"—रोज़ा ने एक अपने मित्र को लिखा था।

अक्तूबर में वह पोसेन प्रांत के रोंके जेल में भेज दी गई। पुराने क़िले को जेल में बदल दिया गया था। कार्य-क्षेत्र से बहुत दूर कर दी गई थी, किन्तु, उसे वह स्थान पसन्द आया। सेल का दरवाज़ा दिनभर खुला रहता। कुछ फूल के पेड़ थे, जिन्हें वह सींचती, सम्हालती। चिड़ियां चहचह करती रहतीं, जिनकी आवाज़ सुनकर वह अपना जेल-जीवन तक भूल जाती। किन्तु, यह आनन्द भी उसके उत्पीड़कों को बर्दाश्त नहीं हुआ। जुलाई १९१७ में वह वहाँ से ब्रेस्लो की सेन्ट्रल जेल में भेज दी गई। वह ख़ूंख़्वार इमारत न फूल, न पंछी, न आज़ादी। दिनभर वह सेल में रखी जाती, सिर्फ़ कसरत के लिये थोड़ी देर के लिये बाहर लाई जाती। जेल के उजाड़ आँगन में वह दीवाल के किनारे किनारे टहलती, जहाँ थोड़ी धूप पहुंचती थी। पत्थर की दीवाल के जोड़ों पर जहाँ-तहाँ हरीघास उगी पाकर वह किसी तरह ललचाई आँखों से उसे देखती। इसी वातावरण में ९ नवम्बर, १९१८ तक रहना पड़ा—जब जर्मनी की क्रांति ने उसे बाहर निकाला।

बाहर आग लगी हुई थी, जेल उसके दिमाग़ और दिल में कुछ करने, सीखने और इस पागलपन के अन्दर से एक नई समाजवादी दुनिया बसाने की बेचैनी हिलकोरें ले रही थी। किन्तु वह एक शीशेके घरमें बन्द थी, जहाँ न आज़ाद हवा आ सकती थी, और न जहाँ हफ़्तों तक सिवा अपनी आवाज़ के दूसरी आवाज़ सुनाई देती थी। किन्तु, इस काली कोठरी में बैठी हुई भी वह युद्धभूमि की विभीषिका, खाइयों में गोलियों से झांझर या भुर्त्ता बनी मानव देह, जनता की तक़लीफ़ें, बच्चों की मौत, एक पूरी पीढ़ी का पतन और मानव संस्कृति में जो सबसे अच्छी चीज़ें हैं, उनका राक्षसी बन जाना या विनष्ट होना-देख रही थी। उसकी निजी तक़लीफ़ों और सख्तियों की भी कमी नहीं थी। किन्तु वह उन्हें ख़ुशी ख़ुशी, बड़ी शान से, बर्दाश्त किये जाती, अगर भूली-भटकी कोई चिड़िया आकर चें चें कर गई, कहीं अचानक कोई फल दिखाई पड़ा, कभी चींटियों की क़तार

उसकी सेल में आई और निकल गई, कुछ भौंरे आकर गुनगुना गये—बस उसकी ज़िन्दगी में थोड़ी देर के लिये परिवर्तन ही नहीं आया, जिन्दादिली भी आ गई। एक बार एक छोटी तितली को उसने बर्फ़ से ठिठुरते देखा, बड़े प्रेम से उसे उठाकर धूप में ले गई, और जब वह पंख फड़फड़ाकर उड़ी—उसके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। जो आकाश का एक टुकड़ा वह अपने उस तंग स्थान से देख पाती, उसमें जब कभी बादल आते जाते, वह विह्वल-विमुग्ध होकर देखती रह जाती। जिन मित्रों से वह दूर कर दी गई थी, कल्पना के लोक में उनके साथ रहना, उनकी चिन्ता करना और उनके बारे में अपने को तल्लीन रखना—उसका एक काम यह भी था। जो ख़त कभी कभी मुश्किल से आ जाते, उन्हें वह बार बार पढ़ती—अक्षरों और पंक्तियों के बीच की गुप्त बातें खोजने की कोशिश करती। इतने पर भी लोगों में साहस भरती हुई लिखती—"धीरज रखो। मैं तुम्हारे नज़दीक़ आऊँगी। मुझे कुछ विचलित नहीं कर सकता। मुझमें वह चीज़ ही नहीं है, जो दुबिधे में डालती है।" लिब्तक्नेख़्त की बीबी सोनिया को वह लिखती है—"मेरी सबसे प्यारी सोना रानी, शान्त रहो, प्रसन्न रहो, हमें ज़िन्दगी का, उसके हर रूप में, सामना करना चाहिये—हिम्मत से, उत्साह से, हँसते हुए! तक़लीफ़ें आती हैं, आने दो!" अपनी हर संगिनी के लिये उसकी अलग अलग भावनायें हैं। सोनिया को वह माँ की तरह प्यार करती है, उसे धीरज देती है, उत्साह देती है। कौट्स्की की बीबी लूसे को वह अपने बराबर की समझ दोस्ताना उलहने के साथ लिखती है। क्लारा ज़ेटकिन को वह विश्वास के साथ एक पंक्तिमें खड़े योद्धा की तरह सम्बोधित करती है।

जेल जीवन की इस नीरसता और एकांत में पुस्तकें ही उसकी शान्ति और सांत्वना की जगह थीं। साधारण क़ैदियों से यही एक सहूलियत उसे थी कि वह किताबें पढ़ सकती थी—निस्सन्देह, वेही किताबें, जिन्हें सेंसर उसके पास जाने दे। वह पुराने काव्यग्रन्थ के सौन्दर्य और जर्मनी, फ्रांस, रूस और इंग्लैंड के नये साहित्य की बहुरंगिता में अपना दिल लगाने लगी। प्राकृतिक विज्ञान उसका प्यारा विषय था। इस निश्चिन्तता में उसने फिर उसे पकड़ा। इसके अतिरिक्त लिखने की ओर भी उसका बहुत ध्यान था। अपनी "अर्थ-शास्त्र प्रवेशिका" पर गोदगाद शुरू की, कोरोलैंको के अनुवाद को ज़ारी किया, पोलैंड का इतिहास लिखने लगी और बाद में रूसकी क्रांन्ति पर भी एक पुस्तक लिखना शुरू किया। फिर, हर "डाक के दिन" कुछ लेख भी ज़रूर तैयार हो जाते, जो जेल के अधिकारी और पुलिस की तीखी नज़रों के बावजूद बाहर जाकर स्पार्टकस के मुखपत्र में छप जाते।

यों जेल में अपने दिन गुज़ारते, वह उस दिन की प्रतीक्षा में थी जब जनता का असन्तोष उग्र रूप धारण कर क्रांति के रूप में प्रगट होगा। उसमें निराशा के लिये जगह नहीं थी। उसका विश्वास था कि इतिहास अपनी राह पर बढ़ेगा ही। जर्मनी के, "सबसे दिमागदार, सबसे अनुशासित और सबसे अधिक समाजवादी सिद्धान्तों में पले और संगठित हुए" मज़दूर वर्दी पहनकर सिर्फ़ तोपों की ख़ूराक ही नहीं बनते रहेंगे, एक दिन वे बग़ावत के उड़ते हुए झंडे को आस्मान तक उड़ायेंगे, बढ़ेंगे और विजय करेंगे, यह उसकी निश्चित धारणा थी।

"गीली रेत पर रगड़ खाते हुए सन्तरियों के बूट की चीख़ और चर्रमर्र में भी जीवन का संगीत है; बशर्ते कि उसके सुनने के लिये कान हों"—वह लूसे कौट्स्की को लिखती है—

"मेरे पास जितने ख़त आते हैं सबमें उसासें हैं, शिक़वे, यह कैसी बेवक़ूफ़ी! तुम क्या अनुभव नहीं करतीं कि बाहर जो संहार मचा हुआ है, उसपर सिर्फ़ आंसू ही नहीं गिराये जा सकते। आज संसार के पुर्ज़े-पुर्ज़े बिखर रहे हैं, हमें समझने की कोशिश करनी चाहिये कि ऐसा क्यों हो रहा है, मैंने अपना फ़र्ज़ अदा किया, अब मैं शान्ति और आनन्द अनुभव करती हूँ। अपने को ज़माने की गर्दिश में डाल कर टुकुर-टुकुर देखते रहना, मेरी समझ में यह बात नहीं आती—मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती!"

: ७ :   रूस की क्रान्ति

पहली विजय

युद्ध के प्रारम्भ होते ही रोज़ा का सम्बंध पोलैंड और रूस के मज़दूर आन्दोलन से टूट चुका था। किन्तु, उसे प्रसन्नता इस ख़बर से हुई थी कि पोलैंड की उसकी पार्टी उसके विचारों के प्रति वफ़ादार बनी रही और उसमें नैतिक पतन का नामोनिशान भी नहीं था। अपने को कभी समाजवादी कहने वाले पिल्सुदस्की और डार्शिस्की ने पोलैंडकी आज़ादी के नाम पर जहाँ अपने को आस्ट्रिया हंगेरी का ग़ुलाम बना रखा था, वहाँ सोशलिस्ट पार्टी के नाम पक्ष और यहूदी मज़दूर संघ ने मिलकर एक सम्मिलित घोषणा इस सम्बन्ध की यों निकाली थी—

"मज़दूर वर्ग अपनी सरकार और उत्पीड़कों से युद्ध की घोषणा करता है। राष्ट्रीय अधिकारों के संघर्ष से पोलैंड का मज़दूर वर्ग अपने सम्पूर्ण वर्ग-हित को सामने रख कर ही अपनी नीति स्थिर करेगा।...उसमें सफल होने के लिए ज़रूरी यह है कि पोलैंड का मज़दूरवर्ग शासन-सूत्र छीन कर अपने हाथों में ले।"

अपने इस आदर्श पर पोलैंड की सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी अन्त तक डटी रही और इसके कारण रूस की ज़ारशाही और जर्मन सैनिक विभाग दोनों का कोप भाजन बनी! पार्टीका सदर मुक़ाम वारसा का जेलख़ाना बना रहा, जहाँ उसके अधिकांश सदस्य क़ैद किये गये थे।

रूस और उसके बाहर बोल्शेविक हमेशा अपने लक्ष्य पर उटे रहे और उन्हीं के चलते रूस में क्रान्तिकारी वातावरण बना रहा। १९१४ में डूमा के बोल्शेविक मेम्बर क्रान्तिकारी कार्य के लिये निर्वासित किये गये। युद्ध शुरू होने के कुछ दिन पहले ही जुलाई में पिट्र्सबर्ग की सड़कों पर बैरिकेड खड़े किये गये थे। युद्ध शुरू होने पर थोड़े दिनों तक तो कोई हलचल नहीं देखी गयी। पूँजीपति नये देशों की विजय की आशा में मस्त थे। किसान नई ज़मीन पाने की कल्पना कर रहे थे। और मज़दूरों में घटनाओं के चलते विश्रृंखला फैली हुई थी। किन्तु १९१५ के आरम्भ से ही नई हड़तालों और प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हो गया। रूस की हार पर हार हो रही थी। सैनिकों की दुर्बलता और राज्य की असमर्थता

साफ़ प्रगट होती जाती थी। ज़ार का दरबार षड्यंत्रों का अड्डा बना हुआ था। जनता की तक़लीफ़ और तरद्दुद बढ़ रहे थे। मज़दूरों में जाग्रति आ गई थी। और पूँजीपति सोचने लगे थे कि यही मौक़ा है, जब वे अपने हाथों में सूत्र ले सकें। उनके प्रतिनिधि सुधार पाने की कोशिशें कर रहे थे, उधर एक सामाजिक क्रान्ति हो गई। ९ मार्च १९१८ (पुराने रूसी चलन के मुताबिक २५ फरवरी) को पिटर्स बर्ग के मज़दूर सैनिकों से मिलकर विद्रोह कर बैठे और मज़दूर-सैनिक-सोवियतें धड़ाधड़ क़ायम होने लगीं। मज़दूरों के हाथ में अनायास ही शासन-सूत्र आ गया, किन्तु उन्हें अपने पर विश्वास नहीं था। उन्होंने इस जीती हुई ताक़त को पूँजीपतियों के सुपुर्द किया—एक नई प्रजातंत्रात्मक सरकार बनी।

रूस की इस मार्च क्रान्ति की ख़बर पाकर रोज़ा जेलमें उछल पड़ी ! उसने एक ख़तमें लिखा—

"तुम कल्पना कर सकते हो, रूसकी ख़बर ने मुझे कितना आन्दोलित किया ! मेरे बहुत से पुराने दोस्त जो मास्को, पिट्र्सबर्ग, ओरेल और रीगा की जेलों में वर्षों से सड़ रहे थे, आजाद आदमी की तरह सड़कोंपर घूम रहे हैं।...इस घटना से मेरी रिहाई का मौक़ा कम होगया, किन्तु दूसरे की आज़ादी ने ही मुझे कम खुश नहीं किया है।"

एक बार उसने सोचा कि वह जर्मनी की सरकार से कहे कि उसे रूसमें निर्वासित कर लिया जाय, किन्तु इसके बारे में क्या हुआ कोई ख़ास पता नहीं चलता।

अब उसके दिमाग़ में सब से पहला स्थान रूस की क्रान्ति का था और उसकी बेचैनी का क्या कहना ! उसे इस बात की घोर चिन्ता थी कहीं रूस की क्रान्ति अपने देश की आन्तरिक कठिनाई और विदेशी क्रान्ति विरोधी ताक़तों के हस्तक्षेप के कारण नष्ट न कर दी जाय, इसलिये उसने जर्मनी के मजदूरोंसे रूस की क्रान्ति की रक्षा करने की अपील की। रूसी क्रान्तिका पहला असर जर्मनी के मजदूरों पर बहुत अच्छा पड़ा। अप्रैल १९१८ में युद्ध सामानों के कारख़ानों के मज़दूरों में हड़ताल की ज़बर्दस्त लहर चली और सिर्फ़ बर्लिन में ही तीन लाख मज़दूरों ने हड़ताल की। इस पर जर्मनी का सेना विभाग घबड़ाया और उसकी मदद में सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के सूत्र-धार और उदारदली महानुभाव दौड़े। उन्होंने घोषित किया कि ये हड़ताली देशके दुश्मन और कायर कुत्ते हैं। यही नहीं, फिर कारख़ानों में धड़पकड़ शुरू हुई और जिनपर थोड़ा भी सन्देह हुआ,

वे पकड़ कर युद्ध के मोर्चेपर तोप की ख़ूराक बनने को भेजदिये गये। सोशल डिमोक्रैटिक नेतृत्व की बात मत पूछिये ? इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के नाम से जो नई पार्टी बनी थी उसने कहना शुरू किया–" जर्मनी रूस नहीं है, जर्मनी में वैधानिक ढंगपर ही आजादी हासिल की जा सकती है। " रोज़ाने चाबुक की चोट की तरह तीखी दलीलों में उन्हें जवाब दिया और मज़दूरों से ज़ोरदार अपील की–" आगे बढ़ो, रूस की क्रान्ति की रक्षा करो–युद्ध को रोकना और मुक्ति पाना इसका यही एक उपाय है। "

उसने रूस की क्रांति का अध्ययन करना और उससे परिणाम पर पहुँचने की चेष्टा करना शुरू किया। किन्तु इसमें अनेक वाधायें थीं। जर्मनी के अख़बारों में इस क्रान्तिके बारे में जो ख़बरें छपतीं वे तोड़ी मरोड़ी गई होतीं। कभी कभी 'टाइम्स' और 'टेम्पस' की कॉपियाँ उसे मिल जातीं, किन्तु उनसे भी सही बातों का पता लगना मुश्किल था। इसलिए जहाँ वह क्रान्ति के रूप और उद्देश्य के बारे में बोल्शेविकों से सम्पूर्णतः सहमत थी, वहाँ फुटकल बातों के अन्दाजा लगाने में उसने छोटी छोटी ग़लतियां भी कीं। जिस तरह कभी लेनिन ने कौट्स्की पर विश्वास किया था, उसी तरह रोज़ा को मेन्शेविकों पर विश्वास था कि क्रान्तिकारी आवश्यकता उन्हें ऊँचे उठायगी और वे आगे बढ़कर क्रान्ति में उसी तरह उपयोगी बन सकेंगे, जिस तरह फ्राँस की क्राँति में बहुत से सुधारवादियों ने बड़ा कमाल कर दिखाया था। किन्तु, उसकी यह आशा पूरी नहीं हुई।

जिस समय सोशल रेव्होल्यूशनरी और मेन्शेविक करेंस्की की सरकार में शामिल हुए, उसकी रही सही आशा जाती रही। उसने लिखा—

" कई दलों को मिलाकर बनी हुई सरकारें आधी राह पर ही रुक जानेवाली चीज़ होती है। यह समाजवाद को पूरी ज़िम्मेदारी निभाने नहीं देती, उसके ऊपर बोझ बन जाती है। यही नहीं, उसके अपने कार्यक्रम को पूरा करने की आज़ादी भी यह नहीं देती। यह ऐसा समझौता सिद्ध होती है, जिसका सभी राजनीतिक समझौतों की तरह, असफल होना निश्चित है। मज़दूरों को एकाधिकार की स्थापना आवश्यक और अनिवार्य है। "

किन्तु, वह यह बात भी अच्छी तरह समझती थी कि यदि संसार के मज़दूरों ने मदद नहीं दी, तो रूस के मज़दूरों का एकाधिकार बुरी तरह कुचल दिया जायगा

और इस तरह पेरिस कम्यून से भी बड़ा संकट मज़दूरों पर आ जायगा। पर, इससे भयभीत होकर पीछे हटने की बात भी वह नहीं सोच सकती थी। क्रान्ति का यह क़ानून है कि वह अबाध रूप में आगे बढ़ती जाती है। ज़रा भी हिचक, ज़रा भी सुस्ती क्रान्तिविरोधी शक्तियों की विजय के लिए रास्ता खोल देती है, फिर उनके द्वारा भयानक ख़ून ख़राबी होना लाज़िमी है। इसलिए, वह चाहती थी कि रूस के मज़दूर अपने विजय-पथपर अग्रसर होते चलें।

करेंन्स्की की सरकार ने युद्ध जारी रखा और उसका नाम बदलकर राष्ट्रीय रक्षा का जनतंत्रात्मक युद्ध रख दिया। यह रूसी मज़दूरों और किसानों को सीधा धोखा देना था। १९१७ अगस्त में 'स्पार्टकस ब्रीफ़' में एक लम्बा लेख लिखकर रोज़ाने इसका विरोध किया। उसने बताया कि युद्ध में शामिल रहना रूसी क्रान्ति के लिए नुक़सानदेह है। चाहे जो भी सुन्दर नाम दिया जाय, किन्तु, इस युद्धसे अँगरेज़, फ्रांसीसी और इटालियन साम्राज्यवाद को ही मदद मिलती है। रूस की प्रजातंत्री सरकार रक्षात्मक नाम पर साम्राज्यवादी युद्ध का एक पुर्ज़ा बनी हुई है। यह युद्ध साम्राज्यवादी शक्तियों की ज़ोर आज़माई की लड़ाई है-ऐसे ऐतिहासिक और प्रत्यक्ष कारण हैं, जिनको देखते हुए, इस युद्ध को दूसरा रूप नहीं दिया जा सकता है!"

१९१७ की गर्मियों में कुछ समाजवादियों ने शान्ति क़ायम होने और युद्ध बन्द किये जाने का नारा बुलंद किया और इसके लिए स्टॉकहॉल्ममें एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिसम्मेलन करने का आयोजन किया गया। रोज़ा ने इस सम्मेलन को साम्राज्यवादियों का नया जाल माना, जिसमें मज़दूरों को फँसाने की चेष्टा की जा रही थी। इस सम्मेलन का एकही मतलब है कि ये साम्राज्यवादी भेड़िये, जो लड़ते लड़ते थक गये हैं, थोड़ी देर सुस्ता लें, जिसमें आगे फिर से लड़ सकें-रोज़ा ने इसे स्पष्ट किया। उस समय जर्मन साम्राज्यवादका पाया हिल रहा था, अतः जर्मन-सरकार ने इस सम्मेलन के लिए सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के प्रतिनिधियों को पूरी सहूलियत देना स्वीकार कर लिया। किन्तु, अँगरेज़, फ्रांसीसी आदि मित्रराष्ट्रों को यह पसंद नहीं था। उन्होंनें अपने देशों के प्रतिनिधियों को उसमें जाने से रोक दिया। यों, यह सम्मेलन टाँय-टाँय फ़िस होगया।

युद्ध के प्रारंभ में रोज़ा ने ख़ुद शान्ति का नारा दिया था। किन्तु, अब परिस्थिति बदल गई थी। दुनिया का एक विशाल साम्राज्यवाद-रूस, नष्ट हो चुका था,

दूसरे दम तोड़ रहे थे। ऐसे अवसर पर वह अपने पुराने विचारों के साथ यह खेलवाड़ होना नहीं देख सकती थी। अब "क्रान्ति" का नारा चाहिये, नकि "शान्ति" का–उसने गरजते हुए अपने प्रतिद्वंदियों से कहा।

नवम्बर की क्रान्ति

नवम्बर में लेनिन की बौल्शेविक पार्टी ने फिर क्रान्ति कराई और सफलता प्राप्त की। इस खबर का जो असर रोजा पर हुआ, उसका कोई रोजा के हाथ का लिखित प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि उस समय रोजा को अपने एक अत्यन्त प्रियजन की मृत्यु की खबर मिल चुकी थी, और वह शोकग्रस्त थी। हो सकता था, इसके बावजूद इस पर वह लिखती, किन्तु, उस समय लगातार गिरफ़्तारियों और दूसरी कठिनाइयों के कारण "स्पार्टकस ब्रीफ़" अनियमित रूप से निकलता था और तुरत वह नियमित रूप से निकलने लगा, दूसरे जरूरी विषय आ पहुँचे, जिनपर गत ध्यान देना ज़रूरी था। किन्तु, इसमें शक नहीं कि मजदूरों की इस विजय ने उसके हृदय में आनन्दोल्लास भर दिया होगा। इसकी एक झलक उस खत से मिलती है, जिसे उसने २४ नवम्बर को कौट्स्की की बीवी के पास लिखा था—

"क्या तुम्हें इन रूसियों की करामात पर आनन्द नहीं आता? हो सकता है, इस इन्द्रजाल को ये निभा नहीं सकें, किन्तु, याद रखो, इन्हें भी असफलता इसलिए नहीं मिलेगी कि आंकड़ों से रूस का आर्थिक विकास बहुत पिछड़ा हुआ मालूम पड़ता है जैसा कि तुम्हारे "पंडित" पतिदेव सिद्धकर चुके हैं, बल्कि इसलिए कि सुविकसित पांश्चिमी यूरोप के मज़दूर–आन्दोलन में बुज़दिलों का दौर दौरा है, जो कि उस हालत में भी हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं, जब ये रूसी अपने हृदय के खून की धारा से समाजवाद की क्यारी सींच रहे हैं। उनकी असफलता भी उन देशों के तथाकथित समाजवादियों की "पितृभूमि के लिये" किये गये कुकर्मों से कहीं अच्छी होगी। यह एक संसारव्यापी ऐतिहासिक घटना घटी है, जिसका चिह्न सदियों तक विद्यमान रहेगा।

बौल्शेविकों के सामने सबसे पहला सवाल था, साम्राज्यवादी जर्मनी से समझौता कर लेना। उन लोगों ने उम्मीद की थी कि रूस की क्रान्ति का असर समूचे संसार के मजदूरों पर पड़ेगा और वे अपने शासकों के ख़िलाफ़ खड़े होकर संसार में शान्ति की स्थापना करने में समर्थ होंगे। किन्तु, इस बारे में वे निराश

हुए। उनके पास ऐसी सेना-भी नहीं थी, जिसके बल पर वह मुक़ाबले की बात सोच सकते। जर्मनी की फ़ौज़ी ताक़त उनकी क्रान्ति को हड़प सकती थी और यदि थोड़ी देर के लिये भी सुलह हो जाय, तो उन्हें सांस लेने के लिये थोड़ा वक्त मिल सकता था। उनके सामने स्पष्ट था; ब्रेस्ट—लिटोवस्क या क्रान्ति का सर्वनाश।

लेनिन ने क्रान्ति को नाश से बचाने के लिये ब्रेस्ट—लिटोवस्क की सुलह जर्मनी से की। रोज़ा को जो पहले ख़बर मिली, उससे उसे शक़ हुआ कि हो—न—हो लेनिन भी जर्मनी के साम्राज्यवादियों के चकमे में आ गया और उसने इस सम्बन्ध में चेतावनी के शब्द कहे। किन्तु, पीछे जब पूरी स्थिति मालूम हुई, उसने लिखा—"लेनिन और उसके साथियों ने न अपने को धोखे में रखा और न दुनिया को धोखा देने की कोशिश की, जो परिस्थिति थी, उसमें उन्होंने खुलेआम पराजय स्वीकार किया।" किन्तु, यह पराजय क्यों? इसका दोषी कौन? रोज़ा ने माना कि इसके लिये अगर किसी को दोष दिया जा सकता था, तो, जर्मनी के मज़दूरवर्ग को, जो सुधारवादी नेताओं के चकमे में आकर फ़ौज़ी—विभाग की मदद किये जा रहा है।

"जर्मनी के मज़दूरों की ग़ुलाम—प्रवृत्ति ने ही रूस के क्रान्तिकारी नेताओं को जर्मनी के साम्राज्यवाद से सुलह करने को मज़बूर किया है। जब तक जर्मनी के वर्तमान शासकों को हटाया नहीं जायगा, दुनिया में शान्ति नहीं हो सकती— दिन-दिन बढ़ते हुए ख़ून और हत्या और जर्मनी के साम्राज्यवादियों की पूरब और पश्चिम की विजय की रफ़्तार तबतक रोकी नहीं जा सकती। उसे रोकने के लिये एक ही उपाय है—जर्मनी में क्रान्ति का मशाल जलाओ, शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने के लिये खुला जन-संघर्ष शुरू करो और जर्मनी में जनता का प्रजातंत्र क़ायम कराओ। भाग्य ने यह जर्मनी के मज़दूरों को मौक़ा दिया है कि जो क्रान्ति पूरब की ओर (रूस में) शुरू हुई है, उसे वे पश्चिम के आख़िरी छोर तक पहुँचा दें। हिचक मौत का पैग़ाम लायगी, कार्य विजय लायगा।"

इसी मौक़े पर रोज़ा ने "रूस की क्रांति" नामकी एक पुस्तक लिखना शुरू किया। उसकी कापी उसने पौल लेवी के पास भेजना शुरू किया, जो १९१८ में लियो जोगिच्चेस की गिरफ़्तारी के बाद स्पार्टकस लीग का संचालन और स्पार्टकस ब्रीफ़ का सम्पादन करता था। यह पुस्तक अधूरी ही रह गयी। रोज़ा की मृत्यु के बाद १९२२ में पौल लेवी ने उसे प्रकाशित कराया।

इस पुस्तक में उसने लेनिन और बौल्शेविकों के बहुत कामों की तीव्र आलोचना भी की है। उसका विचार था कि मज़दूर वर्ग तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब वह हर ऐतिहासिक घटनाओं का निष्ठुरता से विश्लेषण करे और उससे निकले नतीजों से सबक़ लेकर आगे उन गलतियों से बचे। किसी चीज को हर परिस्थिति में पूर्ण सत्य मान लेना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। किन्तु, उस पुस्तक में कहीं ऐसा प्रसंग नहीं है, जिसे उसने निन्दा की नज़र से लिखा हो। उल्टे, बौल्शेविकों की प्रशंसा करते वह अघाती नहीं है। सुधारवादियों ने उसकी इस पुस्तक से अवतरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि रोज़ा बौल्शेविकों की नीति पसंद नहीं करती थी, वह मैन्शेविकों की कार्यपद्धति की समर्थक थी। यह सरासर ग़लत बात है। उसने शुरू में ही कौट्स्की और मैन्शेविकों की नीति की धज्जियाँ उड़ाई हैं, जो कि उदारदल से मिलकर समझौते की शामिल सरकार में घुसे हुए थे और यों जो क्रान्ति की गति को रोके हुए थे। उसने लिखा है—

"लेनिन की पार्टी ही रूस में एकमात्र पार्टी थी, जो शुरू से ही क्रान्ति की गति विधि को ठीक से समझ सकी थी। इसी पार्टी ने क्रान्ति कराई, यही पार्टी समाजवादी नीति का अनुसरण करती रही। रूस की क्राति कुछ महीनों में उस हालत पर पहुँच गई थी, जब दो ही रास्ते रह गये थे—क्रान्ति विरोधी ताक़तों की विजय या मज़दूरों का एकाधिकार; काले दिन या लेनिन।"

जिस निश्चय और साहस से लेनिन की पार्टी फ़ैसलाकुन वक्त में, सही नारों के साथ आगे बढ़ी, एक ही रात में, वह दलित–निन्दित, ग़ैर क़ानूनी छोटी-सी जमात, जो अपने सिर छुपाये फिरती थी, रूस की सर्वेसर्वा बन गई। उसकी जितनी प्रशंसा की जाती, थोड़ी थी। लेनिन, ट्राट्स्की और उनके साथियों ने उस समय वह हिम्मत, उत्साह और क्रान्तिकारी दूरदर्शिता दिखाई, जो किसी भी पार्टी के लिये गौरव की चीज़ हो सकती है–"जिसे पश्चिम यूरोप के समाजवादियों ने धोखा दिया था, उस क्रान्ति की बौल्शेविकों ने रक्षा कर ली। नवम्बर की क्रान्ति ने रूसी क्रान्ति की ही रक्षा नहीं की, उसने अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की नाक रख ली!"

बौल्शेविक नीति की आलोचना

रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने नवम्बर की क्रान्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की। लेकिन उसके साथ ही उसने बौल्शेविकों की तीन नीतियों की गम्भीर आलोचना की—

(१) किसानों का सवाल (२) स्वभाग्य निर्णय का सवाल और (३) जनतंत्र एवं दमन का सवाल।

बौल्शेविकों की यह घोषित नीति थी कि समाजवाद की स्थापना के प्रथम कार्य के रूप में ज़मीन का राष्ट्रीयकरण किया जायगा। सोशल रिव्होल्यूशनरी, ज़मीन किसानों को बाँट देना चाहते थे। इसपर १९०५ में ही लेनिन ने कहा था कि ऐसा करने से गाँवों में एक नये क़िस्म के पूँजीवादीवर्ग क़ायम हो जायँगे। किन्तु, जब उनके हाथ में शासन आया, तो बोल्शेविकों ने अपनी नीति छोड़ दी और सोशल रिव्होल्यूशनरी नीति के अनुसार किसानों में ज़मीन बाँट दी। रोज़ा बौल्शेविकों की उन कठिनाइयों को समझती थी, जिनसे प्रेरित होकर उन्हें ऐसा करना पड़ा। किन्तु, वह इस कार्य को आगे बढ़ा हुआ पग नहीं समझकर, पीछे घसीटने वाला पग मानती थी। वह समझती थी कि इसके चलते समाजवाद की स्थापना में दिक़्क़त होगी, देहातों में धन की विषमता बढ़ेगी, खुशहाल किसानों का ऐसा वर्ग बन आयगा जो ज़मीन के समाजीकरण का सख़्त विरोध करेगा, क्योंकि उसकी दाढ़ में ख़ून होगा, सम्पत्ति की भावना उसे ख़ूंख़्वार बना देगी। जहाँ तक सिद्धान्त की बात है, वहाँ तक उसका कहना बिल्कुल ही सही है। पीछे चलकर जब पंचायती खेती का आरम्भ किया गया, तो वहाँ की 'कुलक' कहलानेवाली इस जमात ने बहुत विघ्न डाले और रोज़ा की भविष्यवाणी एक तरह से सही सिद्ध हुई। किन्तु, रोज़ा जेल में रहते हुए, उस परिस्थिति की जानकारी नहीं रख सकती थी, जिसके चलते बौल्शेविकों को इस नीति का अनुसरण करना पड़ा था। बात यों थी, की सरकारी क़ानून बनने के पहले ही, क्रान्ति के पहले झोंके में ही, किसानों ने ज़मीन्दारों से ज़मीन छीन ली थी और उसे आपस में बाँट लिया था। अब सवाल यह नहीं था कि ज़मीन बाँटी जाय या नहीं, बल्कि यह था कि किसानों से फिर ज़मीन छीनी जाय, या नहीं। उनसे ज़मीन छीनना घातक सिद्ध होता। क्योंकि क्रांति के बाद जो गृहयुद्ध शुरू हुआ, उसमें किसानों की सहायता से ही बौल्शेविकों को विजय प्राप्त हुई। रोज़ा समझती थी कि किसान अपने दक़ियानूसी भावनाओं के कारण क्रान्ति की रक्षा में उद्यत नहीं होंगे। यह बात ग़लत सिद्ध हुई। उस समय रूस में क्रान्ति की भावना का जो ज्वार आया था, उससे किसान भी प्रभावित और प्रवाहित हुए और ज़मीन पाने से क्रान्ति के साथ उनका आर्थिक स्वार्थ भी जुट गया! अगर बौल्शेविकों ने किसानों से ज़मीन छीनने की कोशिश की होती, तो गृह-युद्ध में क्रान्ति का अन्त होकर रहता।

जब रोज़ा जेल से रिहा होकर आयी और वास्तविक परिस्थिति की ख़बर उसे मिली, तो उसने लेनिन की नीति का समर्थन किया।

स्वभाग्य निर्णय का वह हमेशा ही विरोध करती आई थी। स्वभाग्य निर्णय की बात समाजवाद स्थापना के बाद ही सोची जा सकती है, यह उसकी धारणा थी। लेनिन का कहना था कि जिस देश ने दूसरे देशों को ग़ुलाम बना रखा है, वहाँ की क्रान्तिकारी पार्टी स्वभाग्य निर्णय का नारा दे ही, उन ग़ुलाम देशों को अपने अन्दर रखने की कोशिश कर सकती है। लेनिन की इस नीति के चलते ही आज सोवियत यूनियन में कितने ही भिन्न राष्ट्रीयतावाले देश शामिल हैं। किन्तु, पोलैंड और फिनलैंड के बारे में रोज़ा की बात ही सच साबित हुई। ये दोनों देश रूस से स्वभाग्य निर्णय पाकर उनसे अलग ही नहीं हुए, बल्कि अपने देशों के पूँजीपतियों के चकमें में आकर रूस के विरोधी ही बने रहे।

जनतंत्र और विधान परिषद के बारे में रोज़ा की आलोचना सबसे वज़नदार है। विधान–परिषद का नारा बोल्शेविकों ने ही दिया था। किन्तु, जब विधान-परिषद बुलाई गई, तो उसे भंग कर दिया गया। बोल्शेविकों का तर्क था कि यह परिषद जनता की क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। रोज़ा का जवाब था कि यदि ऐसी बात थी तो इस परिषद को भंग कर जनता को फिर नये सदस्यों को चुनने के लिए कहा जाता। ट्रौट्स्की ने इसका माक़ल जवाब दिया था। उसका कहना था कि ठीक, हमने विधान-परिषद का नारा दिया था। किन्तु, उसके साथ ही सोवियतों का इतना तीव्र विकास हुआ कि हमारे नज़दीक इस चुनाव का प्रश्न आया सोवियत को मानें या परिषद को। दोनों के मानने से द्वैध शासन चलता, दो नाव पर पैर रखनेवाली क्रान्ति औंध मुँह नदी में गिरकर डूब जाती। जेल से बाहर आने पर रोज़ा ने जर्मनी की सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी के इस नारे का विरोध किया, जिसमें सोवियत और राष्ट्रीय परिषद दोनों की माँग थी। रोज़ा ने कहा–सोवियत ही सब कुछ है। राष्ट्रीयपरिषद धोखे की टट्टी साबित होगी।

हाँ, वह जनतंत्र की हिमायत कभी नहीं छोड़ सकती थी। जो क्रांति के दुश्मन हों, उन्हें आप जिस तरह भी दबायें, कुचलें, रोज़ा को इसमें कोई एतराज़ नहीं था, किन्तु, वह चाहती थी कि आलोचना करने की आज़ादी विरोधियों को भी दी जानी चाहिये। अगर ऐसा नहीं होगा तो नौकरशाही का बोलबाला होगा और समूची सरकार में अनैतिकता और पतन का घुन लग जायगा। "मजदूरों के

एकाधिकार के लिए जनता को शिक्षित करना, उसमें राजनीतिक चेतना भरना, आवश्यक है और यह तब तक सम्भव नहीं जबतक स्वतंत्र विचार और आलोचना के लिये जगह नहीं दी जाय। इसलिये बोलने की स्वतंत्रता, अखबारों की स्वतंत्रता और सभाओं की स्वतंत्रता मज़दूरों के एकाधिकार में अवश्य रहनी चाहिये—

" सिर्फ़ सरकार के समर्थकों के लिये या किसी पार्टी के मेम्बरों के लिये (चाहे वह पार्टी कितनी भी बड़ी हो) आज़ादी का कोई मतलब नहीं—उसे आज़ादी नहीं कहा जा सकता। आज़ादी का मतलब यह है कि भिन्न विचारवालों को भी आज़ादी हो।

" देश के राजनीतिक जीवनधारा की स्वतंत्र गति को रोकने की चेष्टा सोवियत को भी पतन की ओर ले जायगी। आम चुनाव, प्रेस की आज़ादी, बोलने की आज़ादी, संगठन की आज़ादी के बिना नौकरशाही निरकुंश हो जायगी और वह शासन को गहरे गर्त में जा ढकेलेगी। यह नियम है, इसे बदला नहीं जा सकता। सार्वजनिक जीवन धीरे धीरे क्षीण होता जायगा और एक दिन ऐसा आवेगा कि कुछ दर्जन पार्टी के नेता ही सर्वेसर्वा बन जायँगे—उन्हीं का राज होगा, उन्हीं का नियंत्रण होगा।

" एक छोटी-सी जमात की भी तानाशाही होती है, किन्तु, उसे 'मज़दूरों का एकाधिकार' नहीं कहा जा सकता। वह पूंजीवादी एकाधिकार होगा, या षड्यंत्र-कारियों का एकाधिकार–एक मुट्ठी लोगों का एकाधिकार।"

किन्तु उसका यह मतलब नहीं कि रोज़ा पूँजीवादी जनतंत्र का समर्थन करती थी। उस जनतंत्र को तो वह सामाजिक असमता और अन्याय को ढकने के लिये एक रंगीन पर्दा मात्र समझती थी। मज़दूरों के एकाधिकार की वह भी समर्थक थी, किन्तु, वह एकाधिकार इसलिये चाहती थी कि समाज का उसके द्वारा शीघ्र से शीघ्र परिवर्तन किया जा सके। वह एकाधिकार जनतंत्र का शत्रु नहीं हो सकता बल्कि वह जनतंत्र के लिये उपयुक्त सरज़मीन तैयार करता है। लेकिन, वह जानती थी कि बौल्शेविकों को इस घातक नीति का अनुसरण क्यों करना पड़ा ? महायुद्ध के चलते जो परिस्थिति थी, जर्मनी का जो खतरा था, घर के दुश्मनों का जो ज़ोर था उसे मद्दे नज़र रखते हुए कोई भी दूसरी समाजवादी पार्टी नहीं चाह कर भी इसी रास्ते पर चलने को बाध्य होती। किन्तु, किसी आवश्यकता को सुकर्म का नाम नहीं दिया जाय, ग़लती को ग़लती मानकर ही लाचारी से आगे बढ़ा जाय, यह उसकी मान्यता थी। उसने अपनी उस पुस्तिका में एक जगह लिखा है—

बौल्शेविज़्म के रूप में क्रियात्मक क्रान्तिकारी समाजवाद का नारा सम्पूर्ण मज़दूर वर्ग के लिये यह है—हुकूमत पर क़ब्ज़ा करो। बौल्शेविज़्म ने पूंजीवाद की ज़मीन में दरार चीर कर एक ऐतिहासिक सेवा की है। इस महान सेवा को देखते हुए जो या ब्योरे की ग़लतियाँ, भ्रान्तियां हुई हैं, उनके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।"

किन्तु, एक दृष्टि से रोज़ा की भविष्यवाणी सोलह आने सफल हुई। वही बौल्शेविक पार्टी आज एक मुट्ठी लोगों के हाथ का खिलौना बन चुकी है। लेनिन भी इसके लिये चिन्तित था और उसने ज़िन्दगी भर पार्टी को इस पतन से बचाने की कोशिश की। किन्तु, उसकी मृत्यु के बाद स्टालिन ने उन्हीं सब कामों को कर दिखाया, जिसकी आशंका अपनी आलोचना में रोज़ा ने प्रकट की थी। थर्ड इन्टरनेशनल से लेकर रूस के शासन तक में सब जगह 'एक मुट्ठी लोगों का एकाधिकार' है—" कुछ दर्जन पार्टी के नेता ही सब कुछ " हो गये हैं और "नौकरशाही निरंकुश " होकर पूरे समाजवादी राज्य को गहरे गर्त में ढकेले जा रही है!

: ८ : जर्मनी में क्रान्ति

"रंग लाती है हिना"

१९१८ का साल रोज़ा के जेल-जीवन का सबसे बुरा साल था। अपने उत्साह को क़ायम रखने के लिये उसने सब कुछ किया। संयोग से जो थोड़ा आनन्द मिल पाता, उसमें अपने को तन्मय रखती और अपने एकान्त जीवन की तक़लीफ़ों और नाउम्मीदियों को कड़ी मेहनत में अपने को तन्मय रखकर भूलने की कोशिश करती। किन्तु, दिन-दिन की यातनायें उसकी शिराओं पर हथौड़े की चोट किये जातीं। रोंक में ही उसकी तबीयत ख़राब थी, ब्रेंसलौ की जेल की सख़्ती ने उसकी हालत और ख़राब कर दी। उसने अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहारों की शिकायत जर्मन-सरकार से की, किन्तु, कौन उसपर ध्यान देता है? जब-तक नजरबंदों के केस की देखभाल करने को कमीशनें मुक़र्रर की जातीं तब तक न जानें क्या होता। किन्तु, उनमें रोज़ा की सुनवाई क्यों होने पाती? बीमारी के सबब पैरोल की दरख़्वास्त उसने दी, वह नामंजूर हुई। उसने चिढ़कर सोनिया लिब्तक्नेख्त के पास लिखा—"मालूम होता है, हमें तबतक इन्तज़ार करना पड़ेगा, जबतक हम संसार को न जीत लें।"

अपने हर ख़तमें वह सोनिया को धीरज देती, पति की जेलयात्रा के चलते उसपर जो भारी बोझ आ पड़ा था, उसे बर्दाश्त करने का उपदेश करती। किन्तु, १९१८ में एकबार ख़ुद अपना धीरज खोकर उसने लिखा—"उफ़, कुछ मत पूछो, कुछ मत पूछो—उफ़ मेरे स्नायु; मुझे रात में नींद तक नहीं आती।" कभी कभी वह अचानक घबरा उठती कि कहीं उसके किसी प्रियजन पर आपत्ति न आ गई हो। क्लारा ज़ेटकिन के दोनों लड़के सेना में भर्ती करके मोर्चे पर भेज दिये गये थे। थोड़े दिनों तक क्लारा ने कोई चिट्ठी उसके पास नहीं भेजी। फिर क्या था, रोज़ा ने कल्पना कर ली, उसके बच्चे ज़रूर मारे गये। कौट्स्की की बीवी के पास वह लिखती है—"मुझ पर जो भी संकट आयें, मैं ख़ुशी ख़ुशी बर्दाश्त करूँगी। किन्तु, मुझमें यह ताक़त नहीं रह गई कि दूसरों के दुखों को सह सकूँ—फिर, क्लारा पर कोई मुसीबत आये तो...? उफ़, ऐसा न हो!"

बाहर जो कुछ हो रहा था, उसका प्रभाव उसके हृदय पर गहरा पड़ता।

कहीं जर्मनी का साम्राज्यवाद विजयी हुआ तो ? कहीं रूस की क्रान्ति कुचल दी गई तो ? जर्मनी के मज़दूर जिस तरह गुमसुम बैठे थे, या अपने मालिकों के खूनी काम किये जाते थे, उससे तो उसका हृदय और भी आन्दोलित रहा करता था।

लेकिन, १९१८ की जनवरी में फिर एक बार आशा की किरन छिटकी। वीयना के मज़दूरों के वीरतापूर्ण उदाहरण से प्रभावित हो, जर्मनी के मज़दूरों ने भी करवट ली और ब्रेस्ट लिटोवस्क के सुलहनामे में रूस की कान्तिकारी सरकार को जिस तरह दबाया गया था, उसके ख़िलाफ़ था। लोगों में जो भूख और नंगेपन का दौर दौरा था, उसके ख़िलाफ़ प्रदर्शन होने शुरू हुए। इन प्रदर्शनों में प्रजातंत्र की मांग भी की जाती। बहुत से बड़े-बड़े शहरों में ये प्रदर्शन हुए। बर्लिन में पाँच लाख मज़दूर कारख़ाने छोड़ कर सड़कों पर निकल आये। किन्तु, इस बार भी क्रान्ति का सर बुरी तरह कुचल दिया गया। फ़ौजी अदालतों की भरमार हुई, लम्बी—लम्बी सज़ायें मिलने लगीं, जेलों में स्पार्टकस के सदस्य और उनके समर्थकों का ताता बँध गया। मार्च में स्पार्टकस लीग के फ़ौज़ी संगठन के बहुत से सदस्य लिओ जोगिचेस के साथ गिरफ़्तार करके जेलों में रख दिये गये। सिर्फ़ दो या तीन प्रमुख व्यक्ति बच गये थे, जो किसी तरह आग को ज़िन्दा रखे जा रहे थे। इधर लुंडेनडौर्फ़ पश्चिमी मोर्चे पर घमासान मचाये हुए था। जून, १९१८ के 'स्पार्टकस ब्रीफ़' में रोज़ा ने जर्मनी के मज़दूरों को ताना देते हुए लिखा—

"जर्मनी का मज़दूरवर्ग साम्राज्यवादी रथ की गति को रोक नहीं सका, अब वह खुद उसके चक्के में बँधकर घसीटा जा रहा है और समूचे यूरोप से समाजवाद और जनतंत्र का नाम निशान मिटाने पर तुला हुआ है। जर्मनी के मज़दूर रूस, यूक्रेन, फ़िनलैंड और बाल्टिक देशों के क्रान्तिकारी मज़दूरों के खून में नहा रहे हैं और बेलजियम, पोलैंड, लूथानिया और रूमानिया की राष्ट्रीयता को पैरों से कुचल रहे हैं। फ्रांस की आज़ादी का अस्तित्व उनके चलते नष्ट होने पर है। हर जगह वे जर्मनी के साम्राज्यवादी झंडे को गाड़ रहे हैं।"

"किन्तु, तोपों की खूराक बनने वाले ये मज़दूर नहीं सोचते कि जितनी ही नई ज़मीन जर्मनी को सैनिक विजय से मिलती जा रही है, उतनी ही प्रतिक्रियावाद की जड़ जर्मनी में मज़बूत होती जा रही है। फिनलैंड या दक्षिणी रूस की लाल सेना पर जितनी गोलियाँ चलती हैं, उतनी ही मज़बूती जर्मनी के पूंजीवाद और ज़मीन्दारशाही को मिलती है। फ्रांस के जितने शहरोंपर जर्मनी का क़ब्ज़ा हो रहा

है, जर्मन-प्रजातंत्र के उतने ही क़िले ध्वस्त होते जा रहे हैं। इस लड़ाई के दर्म्यान भी जर्मनी के मज़दूरों की पीठ पर कोड़े पड़ रहे हैं—ये इसी के योग्य हैं!"

रोज़ा ने यह विश्वास नहीं खोया था कि जर्मनी के मज़दूर एक दिन, जगेंगे। किन्तु, वह सोचती थी कि 'का बरषा जब कृषी सुखाने'—रूस की क्रांति के कुचले जाने पर जर्मनी में क्रांति हुई ही तो? इसलिये, वह बार बार उन्हें उलाहना देती, उनमें उत्साह और उत्तेजना भरती।

धीरे धीरे जर्मनी की सामाजिक रचना खोखली होती जा रही थी। आम खूंरेज़ी से लोगों के दिलों में शासकवर्ग के प्रति घृणा का भाव घर करता जा रहा था। अधभूखे पेट की कुलकुलाहट से लोगों का दिमाग़ गर्म होता जा रहा था। शासकों के पैर के नीचे की ज़मीन काँप रही थी। भय का दौरदौरा था, आतंक का दबदबा था। ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि वांछित फल नहीं दे सकी। जो जर्मन सैनिक रूस की सेना के सम्पर्क में आ चुके थे, उनमें क्रान्ति की भावना संक्रामक रोग की तरह फैल चुकी थी। पूरब के मोर्चे से फ़ुर्सत पाकर वे पश्चिम के मोर्चे पर आये, और आये इस बीमारी को लेते हुए। लुडेनडौर्फ़ सेना में बच्चों और अपाहिजों को भी भर्ती कर रहा था, किन्तु लाखों योग्य सैनिक मोर्चे से भाग कर देहातों में छिपे पड़े थे। वे लोगों में—जनता में शासकों और फ़ौजी अफसरों के प्रति अभक्ति और घृणा का आम प्रचार करते थे। विद्रोह की आग धीरे धीरे लहक रही थी। कारखानों में षड्यंत्र के अड्डे बन चुके थे। सब लोग उस सुअवसर की ताक में थे, जब एक धक्का लगाकर क़ैसरशाही का नाश कर दिया जाय।

पहली अक्टूबर को दो प्रमुख घटनायें हुईं। पहली, हिन्डेनबर्ग और लुडेनडौर्फ़ ने क़ैसर के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अब शत्रुओं से समझौता कर लिया जाय। दूसरी—स्पार्टकस लीग और वामपक्षी रेडिकलों की एक सम्मिलित बैठक हुई, जिसमें आगामी क्रान्ति के लिये एक कार्यक्रम तैयार किया गया और एक युद्ध-समिति बनाई गई। यह भी निश्चय किया गया कि फ़ौज में ज़ोरों से प्रचार किया जाय और हर जगह मज़दूरों और सैनिकों की समितियां बनाई जाँय।

क़ैसर का सिंहासन हिल उठा। कोशिश हुई कि पुरानी व्यवस्था की भी रक्षा हो और थोड़ा सुधार भी दे दिया जाय। एक 'जनतंत्रात्मक' सरकार क़ायम की

गई, जिसका प्रधान मंत्री वेडैन का प्रिंस मैक्स हुआ और जिसमें स्वाईडमैन भी शामिल हुआ। राजतंत्र की रक्षा हो और जनता को सन्तुष्ट किया जाय—यही उसका राजनीतिक प्रोग्राम था। अब विजय की आशा नहीं थी; क़ैसर ने सुलह का घिनौना काम नये मंत्रिमंडल पर रख दिया। एक ओर कुछ राजबंदियों की रिहाई हुई, तो दूसरी ओर कुछ भयानक संदिग्ध पुरुषों को सेना और कारख़ानों से हटाकर जेलों में ठूँस दिया गया। घोषणा की गई कि जर्मनी में पूर्ण जनतंत्र क़ायम हो गया, किन्तु, एक ज़बर्दस्त सेना बर्लिन में इसलिये रखी गई कि कहीं विद्रोह हो तो उसे अच्छी तरह कुचल दिया जाय। सभा और संगठन करने की आज़ादी की डुगडुगी पीटी गई, किन्तु, पुलिस ने सिर्फ़ रुकावटें ही नहीं डालीं, प्रदर्शन पर गोलियाँ तक चलाईं। हर नया सुधर, हर नई हिंसा, हर नई सुविधा गड़बड़ियों को और भी बढ़ाती गई।

रोज़ा के लिये अब जेल ज़िन्दगी असहनीय थी। वह सींकचे हिलाने और अपनी रिहाई की मांग करने लगी। आज़ादी पाकर काम करने, रास्ता बताने और हिम्मत देने के लिये वह बेचैन हो उठी। १८ अक्टूबर को उसने सोनिया को लिखा—

"एक बात निश्चित है। मेरी ऐसी चित्तवृति हो चली है कि जेल के अधिकारियों के बंधन में अब मैं किसी से मुलाक़ात नहीं कर सकती। मैंने वर्षों बर्दाश्त किया, वर्षों बर्दाश्त कर सकती हूँ--किन्तु, इस परिस्थिति में नहीं। क्रान्ति की गाड़ी चल चुकी है--मेरी मनोवृत्ति में अजीब परिवर्तन हो चला है। मुलाक़ात के समय मुझ पर निगरानी रखी जाय और उन बातों के कहने से मना किया जाय, जिनपर इस समय चुप रहना सम्भव नहीं; यह मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा। अब हम आज़ाद होने पर ही परस्पर मिल सकेंगे। हमें ज़्यादा दिनों तक इस तरह नहीं रखा जा सकता। मुझे छोड़ना पड़ेगा—कार्ल भी तुरत आज़ाद होगा!"

२० अक्टूबर को राजबंदियों की रिहाई का परवाना कटा और २३ को कार्ल लिब्तक्नेख्त रिहा हुआ। बर्लिन के मज़दूरों ने उसका शाही स्वागत किया। किन्तु, रोज़ा इस रिहाई के अन्दर नहीं आ सकी, क्योंकि वह नज़रबन्द थी! ऐसा क्यों हुआ? क्या फ़ौजी अधिकारी रोज़ा कि उपस्थिति बर्दाश्त नहीं कर सकते थे? और उनके प्रभाव से दब-दब कर सरकार को चुप्पी साध लेना पड़ा था? जब चारों ओर हलचल मची थी, रोज़ा अपने सेल में छटपट कर रही थी।

क़ैसर भाग चला !

घटनायें तेज़ी से छलांग लेने लगीं। मोर्चों से पराजय और पतन की ख़बरें आने लगीं। २९ अक्टूबर लुडेनडौर्फ़, जो इस समय जर्मनी का यथार्थ शासक था, एक झूठे पासपोर्ट के आधार पर विदेश भाग गया। २८ अक्टूबर को जहाज़ी सेनाके सेनापतियों ने उत्तरी सागर में अपनी इज़्ज़त की हिफ़ाज़त के लिये ८०,००० नाविकों और अपने जहाज़ों को क़ुर्बान कर दिया। जर्मनी की हार निश्चित हो गई।

सेना से अधिक जहाज़ी सेना में क्रान्तिकारी विचार फैले हुए थे। १९१७ में ही जहाजी सेना में एक संगठित प्रयत्न बग़ावत के लिये हुआ था। दो जहाजी सैनिकों को फाँसी हुई थी। हर जहाज पर क्रान्तिकारी समितियाँ थीं, जो अपने अफ़सरों की करतूतों पर सख़्त निगरानी रखतीं। नौसेना के लोग अपने देश की इज़्ज़त के लिये अपनी जान को क़ुर्बान करने के लिए हमेशा तैयार थे, किन्तु, वे व्यर्थ के इस हत्याकाण्ड में अपनी जान गँवाना क्यों पसंद करें? जब उन्हें 'काम' पर जाने-चढ़ाई करने का हुक्म हुआ, नाविकों ने जहाजों की इंजिनों की आग बुझा कर अफ़सरों के पागल प्रयास को रोक दिया। ६०० नाविक गिरफ़्तार किये गये। नाविकों ने इस पर खुला विद्रोह कर दिया और मज़दूरों से जा मिले। एक दिन में ही जहाजों और कारख़ानों में एक तरह से आम हड़ताल होना शुरू हो गयी। ४ नवम्बर को कील के गवर्नर को इस्तीफ़ा देना पड़ा और मज़दूरों और नाविकों की पंचायत का वहाँ राज्य हुआ। सरकार ने समझा, यह छिटफुट विद्रोह है और उसे शान्त करने को सोशल डिमोक्रैटिक नेता गुस्टव नौस्क को भेजा। किन्तु, यह तो एक क्रान्ति थी—जो एक शहर से दूसरे शहरमें दावानल की तरह फैलती गई।

अपने छुटकारे के बाद, दो सप्ताह से कार्ल लिब्तक्नेख़्त दिनरात काम कर रहा था—मज़दूरों और सैनिकों की मनोवृत्ति का अध्ययन करता, कारख़ानों में यहां वहां व्याख्यान देता और जनता को विद्रोह करने के लिये उभारता। वह शौप-स्टिवार्ड कमिटी का सदस्य चुना गया, जो जनवरी की हड़ताल के समय क़ायम हुई थी और जिसमें कारख़ानों के प्रतिनिधि भी थे। यह मजदूरों की तरह थी, जिसका उद्देश्य क्रान्ति को आगे बढ़ाना था। इस कमिटी की रोज़ बैठक होती और क्रान्ति की तैयारियों के कार्यक्रम तैयार होते। पुलिस उसके सदस्यों को गिरफ़्तार करने के लिए बेचैन रहती। ख़ासकर लिब्तक्नेख़त पर उसका सबसे ज़्यादा ध्यान था, किन्तु

उस बेचारे को घर जाने की भी फ़ुर्सत कहाँ थी ? उसकी रातें अजीब अजीब जगहों में कटतीं। कभी मज़दूर सभाओं के मंचपर ही एक नींद ले लेता, कभी किसी पार्क के बेंच पर सो जाता और कभी ट्रेपटाओ के जंगल में जा छिपता— क्योंकि पुलिस हमेशा उसके पीछे पड़ी थी। शौप-स्टिवार्ड कमिटी के बुज़ुर्ग नेताओं से उसका मतभेद था। वह चाहता था कि जनता को क्रान्ति के लिये आह्वान किया जाय, सैनिकों को अपने पक्षमें करने के लिये मज़दूरों का प्रदर्शन किया जाय और कारख़ानों और फ़ौज़ी बारिकों में जमकर प्रचार किया जाय। शौप स्टिवार्ड के जो साहसी सदस्य थे, उन्हें अपनी रिवाल्वर पर ही ज्यादा विश्वास था और वे तरह-तरह की टेकनिकल तैयारियों में लगे हुए थे। उनका नारा था—'पूरा या कुछ नहीं और बहुत से हिचक में पड़े लोग भी उनमें शामिल हो गये थे। विद्रोह के दिन और वक़्त ठीक किये जाते थे और वे टलते जाते थे। अन्त में मजदूरों ने ख़ुद नेतृत्व लिया और ये षड्यंत्री तब उनके आगे जाकर खड़े हुए। रोज़ा का वह विचार सही हुआ कि क्रान्ति 'बनाई' नहीं जा सकती, क्रान्ति तो उपयुक्त मौक़े पर ख़ुद जनता से पैदा होती है और तथाकथित तैयारियां सही नतीजे पर नहीं ला पातीं, बल्कि उनके चलते मौक़े को आदमी खो देता है।

९ वीं नवम्बर को बर्लिन में क्रांति का घंटा बजा। लाखों मज़दूर कारख़ानों से निकल आये। इसको कुचलने का किसी को साहस नहीं हुआ। बड़े-बड़े दकियानूस अफ़सर भी बग़लें झांकने लगे। क़ैसर भाग कर हॉलैंड पहुंच गया। प्रिंस मैक्स ने क़ैसर के राज्यत्याग की घोषणा की और उसकी जगह युवराज की गद्दी दिये जाने का ऐलान किया। सोशल डिमोक्रैटिक नेताओं की मदद से वह अबतक भी राजघराने को जिन्दा रखने की उम्मीद करता था। उसने राइख़्टाग का चांसलर सोशल डिमोक्रैटिक नेता फ़्रित्स एबर्ट को बनाया, जो पहले कभी ज़ीनसाज़ी का काम करता था। एबर्ट ने चांसलर होते ही कहा—"मैं क्रान्ति को नैतिक पाप की तरह, घृणा की नज़र से देखता हूं" ठीक उसी समय बादशाही महल की छत पर खड़े होकर कार्ल लिब्तक्नेख़्त ने मजदूरों के बहुत बड़े समूह के सामने ऐलान किया—"जर्मनी में समाजवादी प्रजातंत्र की स्थापना होने जा रही है।"

हर कारख़ाने और बैरक में मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतें चुनी जाने लगीं। मजदूरों और सैनिकों की पंचायत की एक केन्द्रीय कार्य समिति क़ायम की गई, जिसने समूचे जर्मनी पर अपना अधिकार घोषित किया। सभी सरकारी इमा-

रतें मज़दूरों के कब्ज़े में आ गईं। जेलखानों पर धावे हुए और सैकड़ों राजनीतिक क़ैदी रिहा किये गये–जिसमें लिओ जोगिचेस भी था।

बर्लिन में क्रान्ति की विजय हुई। दावानल की तरह चारों ओर क्रान्ति की लहर दौड़ी। बड़े-बड़े शहरों में भी बर्लिन की ही पुनरावृत्ति हुई। ब्रेसलाओ की जेल पर ९ नवम्बर को जनता ने धावा किया और रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग को जेल से निकाला। जेलसे वह सीधे वहाँ के मैदान में गई, जहाँ मज़दूरों और जनताकी बड़ी भीड़ एकत्र थी। उसे देखते ही चारों ओर से आनन्द-ध्वनियाँ होने लगीं। रोज़ा ने ज़ोरदार व्याख्यान दिया, क्रान्ति के झंडे को हमेशा उड़ते रखने का आदेश किया। १० नवम्बर को वह बर्लिन पहुँची। उसे देखकर उसके पुराने दोस्तों को आनन्द भी हुआ, दुःख भी। अरे, वह कैसी बूढ़ी होगई है, उसके सारे बाल उजले हो चले हैं। वह बीमार है। किन्तु, उसकी आंखों में वही आग और रोशनी है। उसके दिल में वही उमंग और उत्साह है। उसकी वाणी में वही जोशोख़रोश है। उसे आराम चाहिये था, तीमारदारी चाहिये थी। किन्तु, उसे इन चीज़ों के लिए फ़ुर्सत कहाँ थी? इसके बाद सिर्फ़ दो महीने वह जीवित रही, किन्तु, इन दो महीनों के दिन और रात, उसके अपने न थे। अपने स्वास्थ्य, अपनी रक्षाकी कोई चिन्ता नहीं करके वह एक एक पल, एक एक क्षण क्रान्ति के कार्यों में लगाती रही। क्रान्ति—अहा, वह रंगीन, मोहक और महान् दृश्य!

जिस तत्परता और तदात्मता से वह काम करती, उसके नज़दीक के लोग डरते कि कहीं वह जोश में ग़लती न कर बैठे। उसपर यह भी इल्ज़ाम लगाया जाता कि वह क्रान्ति के बारे में रूस का अंधानुसरण कर रही है। किन्तु, यह डर, यह अभियोग आधार रहित था। इस तरह के उथल-पुथल के ज़माने में जिसे बड़े-बड़े निर्णय करने होते हैं, उससे ब्योरे में कुछ ग़लतियाँ हो जाना असम्भव नहीं। किन्तु, क्रान्ति अपने विजय के पथ पर बढ़ती हुई ऐसी ग़लतियों को समाज के झारझंखाड़ के दूहों में गाड़ देती है और उन स्वप्नों को सत्य करके दिखला देती है, जिन्हें एक क्षण पहले अवास्तविक और मृगमरीचिका कह कर लोग उपेक्षा करते थे। रोज़ा क्रान्ति के इस मौलिक क़ानून को समझती हुई, बढ़ रही थी—

"क्रान्ति यातो इस्पाती निर्णय के साथ, अपनी विरोधी ताक़तों को लोहे के हाथ से कुचलती हुई, अपने उद्देश्य की ओर बढ़ती चलेगी, बढ़ती चलेगी–या, वह अपनी कमज़ोर शुरुआत के कारण पीछे ढकेल दी जायगी, क्रान्ति विरोधी ताक़तों से कुचल दी जायगी।"

पल–पल, क्षण–क्षण, बदलने वाली उस क्रान्तिकारी घड़ियों में अपनी तूफ़ानी मनोवृत्ति के बावजूद, रोज़ा हमेशा तर्क और दलील से काम लेती। एक बार सफलता के दरवाज़े तक पहुँचकर पीछे वह बहुत दूर ढकेल दी गई, कुचल दी गई– जर्मनी की क्रान्ति का यह हृदय–द्रावक अन्त उसके नेताओं की ग़लतियों के कारण नहीं हुआ, बल्कि उन परिस्थितियों के कारण, जिन पर बार–बार चेष्टा करने पर भी क्रान्तिकारी नेतृत्व क़ाबू नहीं कर सका और अन्ततः अपने ख़ून की आहुति देकर उसने उस महान असफल यज्ञ में चार चाँद लगा दिये।

शक्तियों का लेखा जोखा

यह प्रायः पूछा जाता है, इस तरह शानदार ढंग से प्रारम्भ होकर भी क्यों जर्मनी की क्रान्ति वह परिणाम नहीं दिखा सकी, जिसकी उम्मीद उससे की जाती थी?

हम ज़रा यहाँ, आगे बढ़ने के पहले, उस समय जो सामाजिक ताक़तें काम कर रही थीं, उनका विश्लेषण कर लें।

१९१७ की रूस की मार्च–क्रान्ति की तरह जर्मनी की क्रान्ति ने एक ही झटके में सामंतशाही का ख़ात्मा कर दिया; किन्तु, इस आकस्मिक सफलता ने जर्मनी की जनता में यह भ्रम गहरे पैदा कर दिया कि वह अब प्रजातंत्र के वैधानिक रास्ते पर चल कर समाजवाद की स्थापना कर सकेगी। फिर १९१५ की जर्मनी में रूस की तरह क्रान्तिकारी किसानवर्ग का सर्वथा अभाव था! जर्मनी के किसानों ने महायुद्ध में बड़ा बलिदान किया था, बहुत कष्ट सहे थे! किन्तु, उसे उम्मीद लगी हुई थी कि इसका इनाम ज़रूर मिलेगा। लड़ाई के क़र्ज़े का बौंड ख़रीद कर वे अपने सन्दूक़ों में रखे हुए थे और सोचते थे कि ज्योंही युद्धजनित रुकावटें हटेंगी, वे मालामाल हो जायँगे। दूसरी तरफ़ जर्मन पूँजीपति रूस के पूँजीपतियों से ज़्यादा मज़बूत और होशियार थे। उन्होंनें देखा था कि रूस की क्रान्ति ने क्या करवट ली थी और वहाँ के पूँजीपतियों की क्या दुर्गत हुई थी, इसलिये जर्मनी में क्रान्ति होते ही उनके कान खड़े हो गये और वे अपनी स्थिति की रक्षा में जुट पड़े। पूँजीपतियों, मध्यवर्गीय महानुभावों और पुरानें ज़मीन्दारों में तुरत गठबंधन हुआ। मजदूर जब जोश में थे, उन्होंनें सर नीचे कर ज्वार के पानी को निकल जाने दिया। किन्तु, अपनी गदा सम्हाले रहे कि ज्योंही मौक़ा मिले, क्रान्ति को चूर चूर कर दें।

उनके सौभाग्य से जर्मनी में सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के ऐसे नेता उन्हें मिल गये, जिन्हें शिखंडी की तरह आगे रखकर वे सब घिनौने काम कर पाये।

इन सोशल डेमोक्रैटिक नेताओं की अजीब हालत थी। मज़दूरों का नेता लेजिन पूँजीवादियों के सरताज़ स्टिनेस से हाथ मिला रहा था। फ़ौजी क़ौम के सरग़ना हेन्डेनबर्ग के साथ ज़ीनसाज़ एबर्ट की सांठगांठ बँध गई थी। समाजवादी कहलाने वाला स्वाईडमन और नोस्क पुलिस के सरदार कैम्प और ज़मीन्दारों के प्रतिनिधि हेडेब्रांड के कंधे से कंधा मिला कर चल रहे थे। एबर्ट और उसके संगियों पर विश्वास करके जर्मनी के पूँजीवादियों ने कुछ खोया नहीं, सब कुछ बचा लिया। शुरू से ही एबर्ट, स्वाईडमैन, नोस्क, लेजिन आदि सबके सब क्रान्ति-विरोधी थे। कैसा तमाशा ? १० नवम्बर को बर्लिन के मज़दूरों और सैनिकों की पंचायत ने एबर्ट को सत्कार का सबसे बड़ा अधिकारी बनाया और उसी दिन उसने ग्रौनर और हिन्डेन बर्ग के साथ यह सांठगांठ की कि यदि बर्लिन के मज़दूर ज़्यादा आगे बढ़ना चाहेंगे, तो वह फ़ौज़ से उन्हें कुचलने में ज़रा भी नहीं हिचकेगा। यहाँ सवाल उठता है, क्यों मज़दूरों और सैनिकों ने सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी और उसके नेताओं पर विश्वास कर उन्हें चुना ? इसमें शक नहीं कि युद्ध के ज़माने में यह पार्टी और इसके नेता काफ़ी बदनाम हो चुके थे। किन्तु, इस पार्टी का जो पुराना सुन्दर इतिहास रहा है, उसका जैसा ज़बर्दस्त संगठन रहा है, उसके साथ कितने स्वार्थत्यागी नेताओं के नाम जो जुटे हुए थे, इन कारणों से मज़दूरों को अब भी उससे आशायें थीं।

रूस में एक अच्छी बात हुई थी, जिसके कारण बौल्शेविक पार्टी की जो शुरू में संगठन की कमजोरियाँ थीं, वह छिप गई थीं। वह बात थी— मज़दूरों और सैनिकों के सोवियतों की स्थापना। इन सोवियतों की तरह जर्मनी में भी मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतें बनीं, किन्तु, उनमें वह बल नहीं था। जर्मनी की क्रान्ति उस तरह अचानक हुई, कि इन पंचायतों में संघर्ष के कारण जो ताक़त आती, वह नहीं आ सकी। जनता के शक्ति-साधन के अस्त्र नहीं होकर ये पंचायतें जनतंत्र का दुमछल्ला मात्र थीं। सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी के नीचे की सतह के सदस्यों में क्रान्ति की भावनायें थीं, किन्तु, वे अपने नेताओं का मुँह देखा करते थे। हैस्स, कौट्स्की, ब्रन्स्टीन आदि ने मिलकर इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी बनाई थी। इसका असर मज़दूरों पर काफ़ी था। किन्तु, ये लोग क्रान्ति हो जाने पर भी क्रान्ति से होनेवाले सामाजिक उथल पुथल को रोकना चाहते थे-इनकी

स्थिति रूस के मेन्शेविक पार्टी की तरह की थी । स्पार्टकस लीग का बड़ा नाम था, प्रसिद्धि थी । किन्तु, भीषण दमन के चलते, इसका पूर्ण विकास होने पाया नहीं था । इसलिए चाह कर भी यह बोल्शेविक पार्टी का 'रोल' अदा नहीं कर सकती थी । यदि समय मिलता, पंचायतें मज़बूत होतीं, तो जर्मनी का इतिहास आज दूसरा ही होता ।

रूस की क्रान्ति का नारा था– शान्ति और ज़मीन ! इस नारे पर सैनिक और किसान सब कुछ बलिदान करने को तत्पर हुए । जर्मनी में शान्ति हो चुकी थी और किसानों के हृदय में ज़मीन के लिए वैसी भूख नहीं थी । तुरत का कोई ज़बर्दस्त उद्देश्य नहीं होने के कारण जर्मनी की क्रान्ति में वैसी सरगर्मी नहीं देखी गई—बस, एक क़दम आगे बढ़ा दिया, अब उसमें ठहराव की प्रवृत्ति पैदा हो गई थी ।

किन्तु, क्रान्ति के पक्ष में एक सबसे बड़ी बात यह थी कि मज़दूरों के पास हथियार थे । कोई भी वर्ग निरस्त्र होना नहीं चाहता और कोई भी समाज टिक नहीं सकता जिसके शासकवर्ग के हाथ में शस्त्रों का पूरा नियन्त्रण न हो । ऐसी हालत में शासकों और मज़दूरों में संघर्ष होना लाज़िमी था । इस संघर्ष को किस तरह संचालित किया जाय कि मजदूरवर्ग शासन का सूत्र अपने हाथ में ले सके, अपने शत्रुओं को पराजित कर सके, यह तुरतका महान क्रान्तिकारी कार्य था और इसी कार्य में रोज़ा और उसके साथी जेल से निकलते ही जुट पड़े । वे बैठ नहीं सकते थे, ऐसा करना मज़दूरों को धोखा देना होता; अतः अनेक सामाजिक ताक़तों के विपरीत होने पर भी वे अपने मोर्चे पर डटे रहे ।

रोज़ा ने बर्लिन में पहुँच कर देखा कि इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के अनुयायी तीन पूँजीवादी अख़बारों के दफ़्तर पर क़ब्ज़ा करके, उनसे अपने अख़बार निकाल रहे हैं । स्पार्टकस लीग के सदस्य ही पीछे क्यों रहते ? उन्होंने भी एक दैनिक अख़बार पर क़ब्ज़ा कर लिया है और "रोटे फ़ाहने" नामक एक दैनिक अख़बार उनका भी निकल रहा है । रोज़ा को पूँजीवादी सम्पत्ति के लिये कोई ममता नहीं थी, न वह पूँजीवादी क़ानून की पवित्रता स्वीकार करती थी । किन्तु उसने देखा कि, जैसी स्थिति है, चुनौती मिलने पर वह इस दफ़्तर की रक्षा नहीं कर सकेगी, इसलिये उसने वहाँ से अपने लोगों को हटा लिया ।

किन्तु, इस क्रान्तिकारी ज़माने में एक क्रान्तिकारी संगठन और उसके

क्रान्तिकारी मुखपत्र की आवश्यकता तो थी ही। स्पार्टकस का विकास धीरे धीरे एक संस्था के रूप में हो चला था, किन्तु, उसकी सदस्यता समूचे देश में छोटे-छोटे स्वतंत्र गिरोहों के रूप में बिखरी हुई थी। संगठन बहुत प्रारम्भिक अवस्था में था। इसलिये जहाँ लिब्तक्नेख्त कारखानों और बारिकों में अपने अन्य साथियों के साथ दिनरात आन्दोलन करते फिरता, वहाँ लिओ जोगिचेस ने संगठन का सूत्र अपने हाथों में लिया। अख़बार निकालने में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ थीं—सरकार का नियन्त्रण काग़ज़ पर था और भला रोज़ा और लिब्तक्नेख्त के अख़बार के लिए वह क्यों काग़ज़ देने लगी? किन्तु, इन झंझटों के बावजूद १८ नवम्बर को "रोटे फ़ाहने" का पहला अंक निकल कर ही रहा। उसके सम्पादकों में कार्ल लिब्तक्नेख्त और रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के नाम थे। यथार्थतः सम्पादन का पूरा सूत्र रोज़ा के ही हाथों में था! पॉल लेवी, ऑगस्त थालहाइमर और पॉल लौंग ऐसे प्रतिभाशाली लेखकों के साथ वह अपने पत्र को शान से निकालने लगी। संगठन की दिशा का निर्देश भी वही करती। उस ज़माने के हर सवाल पर प्राणोत्पादक लेख निकलते। जनता की क्रिया और प्रतिक्रिया का निरीक्षण करना, उनकी कमज़ोरियों की आलोचना करना, उनके कर्त्तव्यों और सफलताओं का हार्दिक स्वागत करना और उनकी शक्तियों को एक ही केन्द्र की ओर मोड़ना—हुकूमत की बागडोर अपने हाथ में छीन लो—इन कामों को करते हुए वह कभी थकती नहीं थी। उस समय का 'रोटे फ़ाहने' तत्कालीन जर्मनी का सजीव इतिहास है। उसकी पंक्तियाँ मज़दूरों के नाम रोज़ा की अन्तिम घोषणा है—उसका अन्तिम वसीयतनामा है।—

क्रान्ति का कार्यक्रम

'रोटे फ़ाहने' के पहले अंक में उसने क्रान्ति के प्रोग्राम पर एक ज़बर्दस्त लेख लिखा। रूस की क्रान्ति पर जो पुस्तक उसने लिखी थी, उससे उसके विचार कितना आगे बढ़ चुके थे, इस लेख से स्पष्ट हो जाता है। यह लेख इतना साफ़ है, क्रान्ति के प्रोग्राम को ऐसी सफ़ाई से रखा गया है कि बहुत दिनों तक क्रान्तिकारी समाजवादियों के लिए वह आकाशदीप का काम करेगा। थोड़े से वाक्यों में क्रान्ति के प्रथम सप्ताह के नतीजों का विश्लेषण करके उसने क्रान्ति का प्रोग्राम इन शब्दों में रखा—

"पूँजीवादी शासन का अंत करना और समाजवादी ढाँचे पर समाज का

पुनर्निमाण करना—जर्मनी की क्रान्ति का एकमात्र यही ऐतिहासिक उद्देश्य होना चाहिये। यह बहुत बड़ा काम है और सिर्फ़ कुछ डिक्रियाँ जारी करने या क़ानून बना देने से यह पूरा नहीं हो सकता । यह तभी होना सम्भव है जब शहर और देहात की श्रमजीवी जनता समझबूझ कर प्रयत्न करती चले—उसमें ऊँचे दर्जे की मानसिक व्युत्पन्नता और दृढ़ आदर्शवाद हो और ऐसी लगन हो कि सब कठिनाइयों को कुचलते हुए वह पूर्ण विजय प्राप्त करके ही दम ले।

" क्रान्ति का उद्देश्य ही उसके पथ का निर्णय करता है—कार्य से ही उसके सम्पन्न करने की प्रणाली तय होती है। क्रान्तिकारी सरकारों के पथ निर्देश के लिए ये ही सिद्धान्त हैं—सभी शक्तियाँ जनता के हाथों में, मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतों के हाथों में दी जायँ और क्रान्ति की रक्षा उसकी सब कमजोर जगहों पर हाज़िर दुश्मनों से करने के लिए उसे सब तरह के साधनों से लैस करके तत्पर रखा जाय।

" क्रान्तिकारी सरकार का हर क़दम, उसका हर काम कम्पास की सुई की तरह सिर्फ़ एक ही दिशा की ओर केन्द्रित होना चाहिये और वह दिशा यों है—

" मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतों का फिर से चुनाव कराना चाहिये, उसका विस्तार होना चाहिये। पहले वे उथल-पुथल के ज़माने में बनाई गई थीं, अब ज़रूरत यह है कि वे क्रान्ति के उद्देश्य, कार्य और पद्धति को जागरुकता के साथ समझें, बूझें।

" जल्द से जल्द मज़दूरों और सैनिकों की महापंचायत बुलाई जाय, जिससे जर्मनी भर के मज़दूर वर्ग में एकात्मता का भाव जगे, एक केन्द्रीय राजनीतिक शक्ति का उदय हो जो क्रान्ति की हिफ़ाज़त करे, उसे वेग से आगे बढ़ावे।

" देहातों में जल्द से जल्द तथाकथित किसानों का नहीं, बल्कि देहात के मज़दूरों और छोटे-छोटे किसानों का संगठन किया जाय—जो कि दुर्भाग्यवश अब भी क्रान्ति से अलग खड़े हैं।

" क्रान्ति की स्थायी रक्षा के लिये मज़दूरों की लाल पल्टन खड़ी की जाय, उसे सुशिक्षित करके एक क्रान्तिकारी सेना के रूप में तुरत परिवर्तित किया जाय, जिसमें ज़रूरते नागहानी पर कोई दिक़्क़त न पैदा हो सके।

"राज्य के सभी मुहकमें–अदालत, सेना, पुलिस से पूँजीवादी गुर्गों को निकाल बाहर किया जाय।

"खानदानी ज़मींदारियों के धन और सम्पत्ति को ज़ब्त कर लिया जाय, बड़ी बड़ी ज़मींदारियों और उनके अन्न भंडारों पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय, जिसमें जनता को अच्छी तरह खिलाया–पिलाया जा सके। हमें हमेशा याद रखना है कि क्रान्ति विरोधियों को सब से बड़ी सहायता भूख से ही मिलती है।

"शीघ्र ही संसार भर के मज़दूरों की एक काँग्रेस बुलाई जाय, जिसमें क्रान्ति के समाजवादी और अन्तर्राष्ट्रीय रूप को बतलाया जा सके जर्मनी की क्रान्ति का भविष्य अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग की संगठित शांति, और संसारव्यापी मज़दूरों की क्रान्ति पर ही निर्भर करता है।"

सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की सरकार में हैस्स, कौट्स्की आदि की इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के सदस्य भी शामिल हो चुके थे। हैस्स स्वंय एक मिनिस्टर बन चुका था। रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने इस क्रांतिकारी कार्यक्रम की तुलना एबर्ट और हेस्स की तथाकथित "क्रांतिकारी सरकार" के कार्यक्रम से करके उसका खोखलापन बताया। यह तथाकथित क्रातिकारी सरकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता भी दुहाई दे रही थी, पूँजीवाद सम्बन्धों को क़ायम रखे हुई थी और क्रान्ति-विरोधी ताक़तों को उससे हर तरह का प्रोत्साहन मिल रहा था। अब यह सरकार-एक "राष्ट्रीय परिषद" बुलाने का आयोजन कर रही थी। रोज़ा ने बताया कि इस राष्ट्रीय परिषद के बुलाने का एक ही उद्देश्य है—मज़दूरों और सैनिकों की पंचायत का महत्व कम करना और क्रान्ति को समाजवादी उद्देश्य से हटा कर पूँजीवादी क्रान्ति में परिणत कर देना। जिस समय लेनिन ने विधान–परिषद को भंग किया था, रोज़ा बिगड़ी थी, अब जब क्रान्तिविरोधियों की कार्रवाइयाँ देखीं, उसको अपने विचार बदलने पड़े। जनतंत्र के नारे के बारे में १८८४ में ही फेडरिख़ ऐंगल्स ने ब्रेवेल को लिखा था—

"हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि जब संकट का काल आता है, उस समय और उसके बाद सभी प्रतिक्रियावादी ताक़तें जनतंत्र के झंडे के नीचे ही शरण खोजती हैं, उसी के नारे लगाती हैं।"

चौंतीस वर्षों के बाद ऐंगेल्स की भविष्यवाणी जर्मनी में सफल हो रही थी।

जो कोई भी समाजवाद का दुश्मन और मज़दूरों के राज्य का विरोधी था—दक्षिण-पंथी दकियानूसों से लेकर वामपक्षी इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के सदस्यों तक—सब एक स्वर से राष्ट्रीय परिषद का समर्थन कर रहे थे। जो आम मताधिकार के ख़िलाफ़ आवाज़ें उठाते नहीं थकते थे, जो अपने वर्गस्वार्थ पर ज़रा भी आँच आने देना पसंद नहीं करते थे, वे ही इस समय जनतंत्र और समानाधिकार के सबसे उत्साही समर्थक बन गये थे। फिर उनका क्या कहना, जो मार्क्सवाद के नाम पर साम्राज्यवाद के दुमछल्ले बने हुए थे, जिन्होंने राजतंत्र की रक्षा के लिए कुछ भी नहीं उठा रखा था और जो अब ख़ूनी पूँजीवादी एकाधिकार के लिए बद्धपरिकर खड़े थे। ये अपने को क्रान्तिकारी अब भी कह रहे थे। अपनी सरकार को अब भी क्रान्तिकारी सरकार बता रहे थे। नये रौबेस्पियर और ब्लांकी के उत्तराधिकारी थे, न मार्क्स और लेनिन के—ये तो झूठे पूँजीवादी प्रजातंत्र के पौष्यपुत्र मात्र थे। रोज़ा इनके असली रूप को जनता के सामने ही रखने लगी। कौट्स्की के दल पर उसकी सख़्त नाराज़ी थी, जो राष्ट्रीय परिषद का समर्थन तो करते थे, किन्तु उसके चुनाव को स्थगित कर देना चाहते थे, क्योंकि चुनाव होने से गृहयुद्ध की आशंका उन्हें दिखाई देती थी। रोज़ा ने, २० नवम्बर को उनके बारे में लिखा—

"मालूम होता है १८४८ के क्रांतिवादी और बकवादी लोगों की परंपरा अबतक जारी है, हाँ, उनमें पूर्व-सी न तो प्रतिभा है, न नयापन रह गया है। कौट्स्की, हैस्स और हिलफ़र्डिंग के रूप में हम उनके भद्दे जर्मन संस्करण देख रहे हैं।

"जिस गृहयुद्ध को वे टालना चाहते हैं, वह अनिवार्य है। वर्गयुद्ध का ही दूसरा नाम गृहयुद्ध है और विना वर्गयुद्ध के, सिर्फ़ वैधानिक बहुमत के द्वारा स्थापित समाजवाद—निम्न मध्यम श्रेणी के छुटभैयों का स्वप्नमात्र है।

"जो लोग जाने या अनजाने विधान परिषद के पक्ष में प्रचार कर रहे हैं, वे क्रान्ति को नीचे घसीट कर पूँजीवादी क्रान्ति में परिणत करना चाहते हैं, वे पूँजीपतियों के नक़ाबपोश एजेंट हैं और निम्नमध्यम श्रेणी के प्रतिनिधि हैं।

"हमारे सामने का सवाल प्रजातंत्र और एकाधिकार का सवाल नहीं है। सवाल है—पूँजीवादी प्रजातंत्र या समाजवादी प्रजातंत्र। मज़दूरों का एकाधिकार ही सही प्रजातंत्र है। मज़दूरों के एकाधिकार के मानी, बम, छापे, दंगे या अराजकता नहीं है। उसके मानी हैं समाजवाद की स्थापना के लिए राजनीतिक शक्ति का

उपयोग करना और मज़दूरों के क्रान्तिकारी बहुमत की इच्छासे पूँजीवादी वर्ग के सभी साधनों को छीन कर समाजवाद की स्थापना में लगाना।"

'राष्ट्रीय परिषद' या 'मज़दूरों और सैनिकों की पंचायत'—यही केन्द्रीय प्रश्न था। १४ दिसम्बर को 'रोटे फ़ाह्ने' में रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने स्पार्टकस लीग की ओर से बताया कि मज़दूरों और सैनिकों की पंचायत ही उसके प्रोग्राम का तत्कालीन मुख्य हिस्सा है। इस संसारव्यापी युद्ध ने समाज के सामने यह स्पष्ट कर दिया है कि या तो पूँजीवाद को जिन्दा रख कर फिर नई लड़ाइयों और खून-खराबियों की तैयारी कीजिये, या पूँजीवादी शोषण का अंतकर मनुष्यता को विनाश से बचाइये। समाजवाद की स्थापना सिर्फ़ मज़दूर वर्ग ही कर सकता है—

"इसलिए मज़दूर वर्ग को चाहिये कि पूँजीवादी शासन के जितने अस्त्र और चिह्न हैं—फ़ेडरल कौंसिल, पार्लियामेंट, धारा-सभायें, म्युनिसिपैलिटी आदि सबको तोड़ कर उनकी जगह अपनी वर्गसंस्थायें-मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतें क़ायम करे। जितने सरकारी ओहदे हैं, सार्वजनिक पद हैं, सब पर वे अपना क़ब्ज़ा करें, सभी सार्वजनिक कार्यों का नियंत्रण करें और सभी सरकारी कामों को एक ही दृष्टि से संचालित करें कि वे समाजवाद की स्थापना और उनके वर्गहित के लिए उपयोगी हैं या नहीं।

"हम उत्पादन के सिर्फ़ पुर्ज़े नहीं हैं, बल्कि हम सभी पुर्ज़ों के चलानेवाले स्वतंत्र और स्वाधीन व्यक्तित्व हैं-मज़दूर वर्ग में यह भावना आनी चाहिये। उन्हें यह सोचना चाहिये कि राष्ट्र के सभी धन के मालिक वे ही हैं और अपनी इस महान ज़िम्मेवारी को उन्हें निभाना चाहिये। कोड़े की मार के विना भी उन्हें काफ़ी मेहनत करना चाहिये, डंडे के ज़ोर से बिना हँकाये हुए भी उनकी गति में तेज़ी होनी चाहिये, पूँजीवादी जुयें के बिना भी उनमें अनुशासन का भाव होना चाहिये। समाजवादी समाज के आधार होने चाहियें-सबके हित में उच्चतम आदर्शवाद, कठोर आत्म अनुशासन और क्रियात्मक नागरिकता की भावना; ठीक उसी तरह जिस तरह पूँजीवादी समाज के नैतिक आधार हैं—मूर्खता, अहंकार और अनाचार!"

कैसा उच्च-आदर्श किन्तु, इस आदर्श की ओर जनता का ध्यान नहीं जाय, इसलिए स्वार्थियों ने स्पार्टकस लीग के ख़िलाफ़ तरह तरह के अपवादों का प्रचार शुरू किया। उसके नेताओं और कार्यकर्ताओं को मनुष्यरूप में खूनी जानवर बताया

जाता–जो हत्याकांड करने पर उतारू हैं। अखबारों में, पर्चों में, दीवालपर्चों में, तरह –तरह के घृणित आक्षेप उनपर किये जाते। रोज़ा ने उनका जवाब दिया—

"पूँजीवादी क्रान्तियों में उदीयमान वर्ग के अस्त्र रहे हैं ख़ून ख़राबी, आतंकवाद और राजनीतिक हत्यायें। किन्तु, मज़दूरों की क्रान्ति में आंतकवाद की आवश्यकता नहीं, उसके समर्थक हत्या को घृणा की नज़र से देखते हैं। ऐसी क्रान्ति को ऐसे हाथियार की क्या जरूरत–क्योंकि वह संस्थाओं के ख़िलाफ़ होती है, न कि व्यक्तियों के ख़िलाफ़। न वह झूठे भ्रमों में आकर संघर्ष में प्रवेश करती है और न उसे निराशाओं के प्रतिकार में ख़ूनी आंतक की शरण लेनी पड़ती है। मज़दूरों की क्रान्ति अल्पमत का, एक मुट्ठी बड़े लोगों का संसार को हिंसा द्वारा बदलने का दुस्साहसी के प्रयत्न नहीं है। यह श्रमजीवी बहुमत का–असंख्य जनता का–एक ऐतिहासिक कर्तव्य पालन है, एक ऐतिहासिक आवश्यकता को एक ऐतिहासिक सत्य में बदलने की चेष्टा है।"

मज़दूरों की क्रान्ति के उद्देश्य और साधन की यह घोषणा एक सच्चे क्रान्तिवादी की हार्दिक अभिलाषा को पुष्ट करती है। रूस की क्रान्ति में जो ख़ून ख़राबी हुई थी, उसकी ज़रूरत को महसूस करते हुए भी वह मज़दूरवर्ग को बताना चाहती थी कि हिंसा का प्रयोग आवश्यक आत्मरक्षा के लिए ही किया जाना चाहिये। वह समझती थी कि 'यह सोचना निरा पागलपन होगा कि पूँजीपति समाजवादी बहुमत को देखकर, आपसे आप, अपनी सम्पति, अपना मुनाफ़ा और अपने मानव भाइयों का ख़ून चूसने का अधिकार चुपचाप सुपुर्द कर देंगे' किन्तु, वह चाहती थी कि हिंसा वहीं तक हो, जहाँ तक उसकी अनिवार्य आवश्यकता समझी जाय! पूँजीवादियों की नीचता, पागलपन और पाशविकता उसकी आंखों से दूर नहीं थी और वह जानती थी कि ये लोग अपने शोषण का अधिकार छोड़ने के बदले संसार को भस्मीभूत कर देना ज़्यादा पसंद करेंगे और बिना हिचक ऐसा करेंगे। इसलिए उसने यह भी स्पष्ट कर दिया—

"पूँजीवादियों की क्रान्तिविरोधी हिंसा का जवाब मज़दूरों की क्रान्तिकारी हिंसा से दिया जाना चाहिये। मुक़ाबले की कड़ियों को इस्पाती हाथ और दुर्दमनीय शक्ति से तोड़ते हुए आगे बढ़ना होगा। पूँजीपतियों के घावों, साज़िशों और बदमाशियों को दृढ़ निश्चय, जागरुकता और अविरल कार्यकलाप से व्यर्थ बनाना होगा। क्रान्तिविरोधियों के ख़तरों से बचने के लिए जनता को सशस्त्र करना होगा

और शासकों के हाथों से हथियार छीनना पड़ेगा। पूँजीवादियों की वैधानिक रुकावटों का सामना मज़दूरों और सैनिकों के दृढ़ संगठन से ही किया जा सकता है।

"समाजवाद की स्थापना के लिये किया गया संघर्ष संसार में हुए सभी भीषण गृहयुद्ध से भी भीषण होता है और इसमें विजय प्राप्त करने के लिए मज़दूरों की क्रांति को सभी हथियारों से लैस होकर रहना पड़ता है। इन हथियारों से लड़ने और विजयी होने के लिए मज़दूरवर्ग को इनके इस्तेमाल का पूरा ज्ञान होना चाहिये।

"मज़दूरों का एकाधिकार जनता के हाथों में क्रान्ति के उद्देश्य को पूरा करने का अस्त्र है, इसलिए यह एकाधिकार ही यथार्थतः जनतंत्र है। वह प्रजातंत्र तो धोखा है जिसमें सूखे हुए, पुचके गालवाले मज़दूर और किसान पूँजीपतियों और ज़मीन्दारों की बग़ल में बैठकर सिर्फ़ बहस-पर-बहस किये जाते हैं। सच्चा प्रजातंत्र वह है जिसमें करोड़ों की जनता राजशक्ति को अपने हाथ में लेती और उसका इस्तेमाल अपने शत्रुओं के सर को कुचलने और अपने लिए एक नई दुनिया बनाने के लिए करती है। यही सही अर्थ में प्रजातंत्र है—बाक़ी धोखा है, जाल है, फ़रेब है।"

क्रान्तिकारी कार्य के साधारण सिद्धान्तों की घोषणा के साथ ही इस प्रोग्राम में शासन पर विजय पाने, उस विजय को स्थायी बनाने, समाजवादी अर्थनीति को काम में लाने, जनता के रहनसहन को ऊँचा करने और उनमें सांस्कृतिक उन्नति लाने का भी ब्योरेवार उल्लेख था। स्पार्टकस लीग को मज़दूरवर्ग का सबसे अधिक वर्ग-जागृत हिस्सा कहा गया था, जिसका उद्देश्य था क्रान्ति की हर मंज़िल पर मज़दूरवर्ग को उसके ऐतिहासिक कर्तव्यपालन में सही रास्ता बनाना एवं समाजवाद और विश्वव्यापी क्रान्ति का प्रतिनिधित्व करना। क्रान्ति के दुश्मनों के साथ वह शासन में हिस्सा नहीं बँटायेगी और न समय के पहले वह सरकार की बागडोर ही अपने हाथ में लेगी। यह कार्यक्रम सिर्फ़ बहादुरी दिखने या छापे मारने का प्रोगाम नहीं है—बल्कि ठीक उसका विरोधी है।

"जब जर्मनी की श्रमजीवी जनता का बहुमत उसके विचार, उद्देश और कार्यपद्धति का समर्थन करके साफ़-साफ़ अपनी इच्छा प्रगट कर देगा, तभी स्पार्टकस लीग शासन का सूत्र अपने हाथ में लेगी, उसके पहले कभी नहीं।"

दो सप्ताह बाद इस कार्यक्रम को रोज़ा ने जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रारम्भिक सम्मेलन में पेश किया और कहा कि "कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो" के सिद्धान्तों का ही इसमें समयानुसार निर्देश किया गया है। इसमें शक नहीं कि एक ही विचार, एक ही उद्देश्य, एक ही कार्यपद्धति और एक ही प्रेरणा से ये दोनों घोषणायें प्रगट हुई थीं—एक को अगर हम वैज्ञानिक समाजवाद की जन्मपत्री कहें, तो दूसरे को उसका अन्तिम दस्तावेज़। कार्ल मार्क्स ने "कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो" १८४८ में लिखा था, जब जर्मनी पूँजीवादी क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़ा था, जिस क्रान्ति को मार्क्स ने मज़दूरों की क्रान्ति का पूर्वज माना था। १८१५ में सामंतशाही का ख़ात्मा हो चुका था और पूँजीवादी क्रान्ति समाप्त हो चुकी थी। अब पूँजीवादी और मज़दूरवर्ग आमने-सामने खड़े होकर अन्तिम युद्ध की तैयारी में लगे थे। रोज़ा द्वारा लिखा गया यह "क्रान्ति का कार्यक्रम" ऐसे ज़माने में मज़दूरों का क्या कर्त्तव्य है, यह बताता है। बीच में सत्तर वर्ष का लम्बा काल था, किन्तु, इन दोनों में कितनी समता थी।

क्रान्तिविरोधी धावे ?

जिस समय रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने क्रान्ति का यह प्रोगाम प्रकाशित किया, जर्मनी में क्रान्तिकारी और क्रान्ति-विरोधी ताक़तों में गुत्थमगुत्थी शुरू हो गई थी। क्रान्ति के दुश्मनों ने बड़ी चालाकी और चक्कर से काम किया था। १० नवम्बर को एबर्ट ने सेनाविभाग से सुलह की थी, जिसका प्रारम्भिक उद्देश्य था बर्लिन के मज़दूरों को सर करना। ३० नवम्बर को कमिसार विनिंग ने, जो पहले मज़दूर नेता था, बौल्शेविक रूस से युद्ध करने के लिए एक सेना एकत्र करने की घोषणा की थी और स्वतंत्र दस्ते पोलैंड को सबक़ सिखाने के नाम पर तैयार किये जा रहे थे। दस डिवीज़न सेना बर्लिन पर चढ़ आई थी, किन्तु क्रान्ति की आग में, न जानें वह कहाँ पिघलकर विलीन हो गई। तब बर्लिन के सोशल डिमोक्रैटिक सेनापति वेल्स ने "प्रजातंत्री सैनिक संघ" की नींव डाली और पूँजीपतियों के पैसों के ज़ोर से उसमें १५,००० सैनिक भर्ती हुए। जो सैनिक शक्तियाँ क्रान्ति के पक्ष में थीं, वे कमज़ोर थीं। बर्लिन का पुलिस प्रेसिडेन्ट एमिल इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का सदस्य था। उसने मज़दूरों को लेकर एक ज़बर्दस्त रक्षादल क़ायम कर रखा था, ३,००० नाविकों ने इम्पीरियल पैलेस में डेरा डाल रखा था, किन्तु, उनपर तुरत विश्वास नहीं किया जा सकता था। स्पार्टकस लीग की ओर से

'लाल सैनिक संघ' का संगठन किया गया था, जिसमें सैनिकों की तादाद ज़्यादा नहीं थी। हाँ, कई हज़ार मज़दूर हाथियार बंद थे, जो क्रान्ति की रक्षा के लिए हमेशा तत्पर और तैयार थे।

६ दिसम्बर को क्रान्तिविरोधी ताक़तों ने सबसे पहले सर उठाया। हैम्बुर्ग और राइनलैंड में क्रान्तिविरोधी षड्यंत्रों का पता लगा। बर्लिन के सैनिकों के एक गिरोह ने एबर्ट को प्रजातंत्र का सभापति घोषित कर सब ताक़तों पर क़ब्ज़ा करने की मांग पेश की। दूसरे गिरोह ने 'मज़दूरों और सैनिकों की पंचायत' के पदाधिकारियों को गिरफ़्तार करना शुरू किया और तीसरे ने 'रोटे फ़ाहने' के दफ़्तर पर क़ब्ज़ा कर लिया। ये सब ग़ैर क़ानूनी काम हुए, किन्तु, सरकार ने उँगली तक नहीं उठाई। किन्तु, बर्लिन के उत्तरी हिस्से में लाल सैनिक संघ की ओर से, सरकार को बाज़ाब्ता सूचना देकर जो प्रदर्शन किया गया, उसपर गोलियाँ चलाई गईं, जिसमें १८ मरे और ३० घायल हुए। इन घटनाओं ने सरकार की इज़्ज़त धूल में मिला दी। इनके विरोध में स्पार्टकस लीग की अपील पर लाखों मज़दूरों ने बर्लिन की सड़कों पर प्रदर्शन किया। तब लाचार पुलिस-प्रेसिडेन्ट ने जाँच की और जब यह भेद खुलने लगा कि सारी करामत बर्लिन के सेनापति और युद्ध मंत्री की है, तो कुछ इधर-उधर करके बात दबा दी गई।

स्पार्टकस के ख़िलाफ़ घिनौने प्रचार ज़ोरशोर से शुरू हुए—जैसे ये पागल के प्रलाप हों! रोज़ सूचना दी जाती—आज वे लोग छापा मारेंगे। बोल्शेविज़्म और स्पार्टकस—भयभीत पूँजीवादियों की ज़बान पर, ये ही दो शब्द थे। कहा जाता कि बोल्शेविक तो औरतों को सार्वजनिक उपभोग की वस्तु बना देते हैं! और, देश में जहाँ जो ख़ुराफ़ातें होतीं, सब स्पार्टकस के सर थोप दी जातीं। कार्ल लिब्तक्नेख़्त और रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग का ऐसा चित्रण किया जाता, मानों ये दो ख़ून के प्यासे शेर-शेरनी हों! सरकारी रुपये के बल से "बोल्शेविक विरोधी संघ" क़ायम हुआ था, जो दिन रात अफ़वाहें फैलाता, लोगों को भयभीत करता। ख़ुफ़िया और उभाड़ने वाले गुर्गों की भरमार थी। सभाओं में स्पार्टकस के नेताओं की हत्या कर देने की बात खुलेआम कही जाती। साम्राज्यवादियों की पुरानी संस्था ने एक बड़ा पर्चा दीवालों पर इस आशय का खुलेआम टँगवाया—

"मज़दूरो, नागरिको,

हमारी पितृभूमि के विनाश की आशंका है। उसकी रक्षा कीजिये। यह ख़तरा

बाहर की नहीं, भीतर का है। स्पार्टकस उसे नाश करना चाहते हैं। उनके नेताओं को मार डालिये ! लिब्तक्नेख्त को ज़िन्दा मत छोड़िये ! जब ये मर जाँयगे, तभी हमें शान्ति, काम और रोटी मिलेगी।

—मोर्चे से आये सैनिक !"

सरकार चुपचाप तमाशा देखती थी, ऐसी कार्रवाइयों को रोकने के लिए कुछ नहीं करती थी। ७ दिसम्बर को कार्ल लिब्तक्नेख्त 'रोटे फ़ाहने' के दफ़्तर में था कि उसे घेर लिया गया और उठाकर उसे बाहर ले जाने का इन्तज़ाम ही हो रहा था कि पुलिस पहुँच गई और यों वह बच गया। पीछे पता चला, वे लोग उसे उठाकर ले जाते और मार डालते ! सोशल डिमोक्रैट वेल्स ने गुण्डों का एक दल बनाया था, जिसका एकमात्र उद्देश्य था—स्पार्टकस लीग के नेताओं को खोज खोज कर पीटना और उसके संगठन को असम्भव बना डालना। स्पार्टकस के नेताओं की ज़िन्दगी पर हर घड़ी ख़तरा था। रोजा काम की भीड़ में ऐसी फँसी रहती कि अपने घर जाने की भी उसे फ़ुर्सत नहीं मिलती। अब तो वहाँ जाना भी ख़तरे से ख़ाली नहीं था। उसके दुश्मन हमेशा वहाँ उसकी ताक में रहते। हर रात अलग-अलग नामों से वह भिन्न भिन्न होटलों में रहती और सबेरे ही घिर जाने के डर से वहाँ से भाग निकलती। उसे पूरी नींद भी मुअस्सर नहीं होती। 'रोटे फ़ाहने' का सम्पादकीय दफ़्तर भी सुरक्षित नहीं था—बहकाये और चढ़ाये हुए सैनिकों की टोलियाँ बार-बार उसपर धावे कर बैठतीं।

इन उत्तेजनाओं में भी रोज़ा अपने सर को ठंढा और अपने दिमाग़ को साफ़ रखती। एक ओर विश्लेषणात्मक लेख पर लेख लिख कर जनता की क्रान्ति-भावना को पुष्ट किये जाती, दूसरी ओर जो मजदूर और सैनिक उसके दफ़्तर में सलाह के लिए आते, उनके दिमाग़ों की गुत्थियों को सुलझाती, उन्हें सही रास्ता बताती। खाने का ठिकाना नहीं, पीने की फ़ुर्सत नहीं, तो भी वह मशीन की तरह काम किये जाती। अपने शरीर पर उसका पुरा क़ब्ज़ा था, उसकी इच्छा पर वह बेचारा चला करता। उसकी इच्छा-शक्ति का उसकी शारीरिक दुर्बलता पर पूरा आधिकार हो चुका था। 'क्रान्ति के मोहक दृश्य' उसके हृदय को, मस्तिष्क को समतुलन पर रखे हुए थे।

तरह तरह की कोशिशों—झूठ, षड्यंत्र, बहकावा, प्रतिक्रिया, ख़ूनी हिंसा-

के बावजूद दिन दिन क्रान्ति की भावना बढ़ रही थी। मोर्चे से सैनिक गुस्से में चूर इस बहकावे में आते कि स्पार्टकस ही सब खुराफ़ातों की जड़ है, किन्तु, तुरत ही वे क्रान्ति के समर्थक बन जाते। मज़दूर अपने खास हथियार—हड़ताल का इस्तेमाल बार बार करने लगे। अपर सिलेसिया से राइनलैंड तक हड़तालों की धूम थी। हड़ताल का नया रूप और नया नेतृत्व विकसित होने लगा। इन हड़तालों ने जिनमें लाखों मजदूर शामिल होते, "अमन और क़ानून" के रक्षकों के दिल में दहशत पैदा कर दी। उस तथाकथित 'समाजवादी' और 'क्रान्तिकारी' सरकार ने फ़ौज़ के द्वारा हड़तालों को कुचलने का निश्चय किया। एक पुराने मज़दूर-नेता ने बड़ी आह से कहा—"हाय, क्रान्ति को कितना नीचे घसीटा जा रहा है, मज़दूर अब मुशाहरा बढ़ाने की माँग करने लगे हैं!"

कैसी प्रवंचना! जो वर्षों से भूखों मर रहे थे, तरह-तरह के अभावों की ज़िन्दगी बिता रहे थे, वे यदि अपनी इस क्रान्तिकारी सरकार से रोटी मांगें, उससे अपनी स्थिति सुधारे जाने की मांग पेश करें, दवाब डालें, तो इसमें कौन-सी अस्वाभाविकता है, अन होनापन है? फिर ये हड़तालें सिर्फ़ मुशाहरे के लिए की जाने वाली हड़तालें नहीं थीं। ये तो क्रान्ति की अंग थीं। मज़दूरों की मांग सिर्फ़ मज़दूरी बढ़ाने की नहीं थी, बल्कि कारखानों पर उनका अधिकार होने और उन कारखानों का संचालन समाजवादी ढंग पर किये जाने की थी। इसलिए रोज़ा ने इन हड़तालों का समर्थन उत्साह से किया। वह रूस की १९०५ की क्रान्ति का सबक़ भूली नहीं थी, सामाजिक परिवर्तन के युग में इन आर्थिक संघर्षों का क्या अर्थ होता है, वह जानती थी। उसने उसी समय, यह भविष्यवाणी की थी—

"क्रान्ति का जमाना आते ही जर्मनी के मजदूर-आन्दोलन का रूप भी बदल कर रहेगा; उस समय वह ऐसा भीषण रूप धारण करेगा कि आज कल के छिटफुट संघर्ष उस समय बच्चों के खेलवाड़ मालूम पड़ेगा! आर्थिक हड़तालों की लहर उस समय राजनीतिक संघर्ष को प्रेरणा देगी, आगे बढ़ायेगी! राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों की क्रिया और प्रतिक्रिया मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारिता को उसी तरह दिशा देगी, लक्ष्य तक पहुंचावेगी, जिस तरह दूसरे देशों में देखी गई है।"

उसकी उस भविष्यवाणी पर उस समय किसी ने ध्यान नहीं दिया था। किन्तु, अब वही जब सत्य का रूप धारण कर रही थी, लोग आश्चर्य से आंखें मींच रहे थे। रोज़ा ने २७ नवम्बर के 'रोटे फ़ाहने' में लिखा—

" सरकार की उदार डिग्रियों की प्रतीक्षा किये बिना और विचित्र राष्ट्रीय परिषद के निर्णय की राह देखे बग़ैर जनता, आप से आप, समाजवाद की स्थापना और पूंजीवाद के खात्मा के यथार्थ साधनों को पकड़ रही है। हड़तालों की जो लहर चल रही है, उससे यह साबित हो जाता है कि क्रान्ति सामाजिक व्यवस्था की जड़ तक पहुंच चुकी है। क्रान्ति स्वयं अपने प्राकृतिक आधार की ओर बढ़ रही है—वह मंत्रिमंडल के परिवर्तनों और उनके क़ानून को ताक पर रखती जाती है, क्योंकि वे पूंजी और मज़दूर के सामाजिक सम्बन्ध पर ज़रा भी असर नहीं डालते और व्यक्तिगत इच्छाओं का पदानुसरण करते हैं।

"वर्तमान क्रान्ति में हड़तालों का रूप सिर्फ़ वेतन की वृद्धि या दूसरे महत्वपूर्ण बातों के लिए किये गये संघर्षों का नहीं रह गया है। बल्कि, जर्मनी के साम्राज्यवाद के पतन और मज़दूरों और सैनिकों की क्षणिक राजनीतिक क्रांति के चलते पूंजीवादी सम्बन्धों में जो महान उथलपुथल मच गया है, उसमें मज़दूरों की स्वाभाविक आकांक्षाओं को ये प्रगट करती हैं। ये जनता द्वारा शुरू की गई सीधी चोट की लड़ाई की सूचना देती हैं—सरकार की डिग्रियां तो इनका शामिल-बाजा हैं।"

रोज़ा को पूरी उम्मीद थी और इसमें शक नहीं कि जनता तेज़ी से बामपक्ष की ओर बढ़ रही थी। किन्तु, उसकी यह गति प्रारम्भिक अवस्था की थी, घटनाओं के प्रवाह से वह संचालित थी। जनता उसके राजनीतिक महत्व को ठीक से नहीं अनुभव कर रही थी। मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतें जनता में स्पष्ट राजनीतिक भावनाओं का संचार कर सकती थीं, किन्तु, क्रांति की पहली लहर में उनमें जो जोश-ख़रोश था, वह अब धीरे धीरे ख़त्म होता जाता था। वे सरकारी संस्थाओं के सामने झुकतीं और अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को सौंपती जाती थीं। सोशल डिमोक्रैटिक नेता देश भर में ज़बर्दस्त प्रचार कर इन पंचायतों को अपने अधिकार छोड़ने के लिये तैयार कर रहे थे।

जनता और नेतृत्व के बीच कैसी खाई पड़ गई है, इसका सबूत बर्लिन में १६ से २० दिसम्बर तक होनेवाली मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतों की कांग्रेस में मिला। इस कांग्रेस के लिए प्रतिनिधियों का सीधा चुनाव नहीं हुआ। स्थानीय पंचायतों ने प्रतिनिधियों को नामज़द किया। ये प्रतिनिधि वर्तमान का नहीं, अतीत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। अपने राजनीतिक रूप में यह, जनता की पंचायत नहीं

थी; बड़े बड़े लोगों की मजलिस थी। ४८९ प्रतिनिधि आये थे, जिनमें २८८ सोशल डिमोक्रैट थे, ८० इंडिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैट थे और सिर्फ़ १० स्पार्टकस थे। बाहर की जो स्थिति थी, उससे उस कांग्रेस-भवन का वातावरण बिल्कुल भिन्न था।

रोज़ा ने 'रोटे फ़ाहने' में एक लेख लिखकर बताया कि इस कांग्रेस को किस रास्ते पर बढ़ना चाहिये। एबर्ट-स्खाइडमैन सरकार को डिसमिस करो, क्योंकि यह प्रतिक्रियावादियों का अड्डा बन गयी है; उन फ़ौज़ी दस्तों के हथियार छीन लो जो मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतों की बात नहीं मानतीं; नई सरकारने जो फ़ौज़ी दस्ते तैयार किये हैं, उन्हें भंग कर दो; लाल सेना की भर्ती करो; राष्ट्रीय परिषद के भुलावे को छोड़ो, क्योंकि वह क्रांति को पथ भ्रष्ट करना चाहती है; मजदूरों और सैनिकों की पंचायतों को सारे अधिकार दो! यही सच्ची राह है, जिसपर चलकर जर्मनी की क्रांति को पूरा किया जा सकता है। इन मांगों के समर्थन में स्पार्टकस लीग ने बर्लिन के मज़दूरों से विराट् प्रदर्शन करने का आह्वान किया और जैसा बड़ा प्रदर्शन हुआ, वैसा बर्लिन ने कभी देखा नहीं था। इस प्रदर्शन के कारण कांग्रेस ने "क्रांति-विरोधियों के हथियार तुरन्त छीन लेने" का प्रस्ताव तो किया; कुछ और भी धोखेधड़ी से भरी बातें भी की गईं, किन्तु जो इस कांग्रेस का यथार्थ रूप था, वह प्रगट हो गया, जब उसने अपने सब अधिकार नई सरकार को सौंप कर मानो स्वयं आत्म हत्या कर ली!

रोज़ा ने तुरत ही इस निर्णय के व्यापक परिणाम को समझ लिया, उसने 'रोटे फ़ाहने' में २१ दिसम्बर को लिखा—

"क्रान्ति की पहली मंज़िल की त्रुटियों के कारण ऐसा नहीं हुआ है, बल्कि इसके कारण हैं, इस क्रान्ति की कुछ खास कठिनाइयाँ और उसकी ऐतिहासिक स्थिति की कुछ खास विशेषतायें। दूसरी क्रान्तियों में लड़नेवाले मुँह से नक़ाब हटाकर आमने-सामने खड़े होते थे—वर्ग के ख़िलाफ़ वर्ग, प्रोग्राम के ख़िलाफ़ प्रोग्राम और झंडे के ख़िलाफ़ झंडा। किन्तु, इस क्रान्ति में पुरानी व्यवस्था के रक्षक शासक वर्ग के चिह्न धारण करके नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि वे सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के झंडे के नीचे खड़े होकर लड़ रहे हैं। अगर आज यह सवाल साफ़ और खुला होता कि समाजवाद या पूँजीवाद, तो जनता में एक क्षण के लिए भी हिचक नहीं देखी जाती।"

किन्तु, रोज़ा को अब भी आशा बँधी हुई थी। क्योंकि सैनिक साम्राज्यवादी

जामे को उतार फेंक रहे थे और अपना सम्पर्क उस सामाजिक आधार से जोड़ रहे थे जिसमें वर्गजाग्रति ने जड़ जमा ली थी। फिर, बड़े-बड़े नये सवाल पैदा हो रहे थे। बेकारी बढ़ रही थी, पूँजीपतियों और मज़दूरों के झगड़े बढ़ रहे थे और सरकार का खज़ाना खाली हो रहा था। इन परिस्थितियों में वर्गों का विभेद साफ़ और तेज़ होता जायगा और क्रान्तिकारी उत्तेजना बढ़ती जायगी। समय खुद क्रान्ति को पुष्ट किये जा रहा था। यद्यपि वह जल्द फ़ैसला कर लेना चाहती थी और दुश्मनों से जा मिलने वाले दग़ाबाज़ों से वह घोर घृणा करती थी, तो भी, उसकी इच्छा और उसका दिमाग़ उसकी उतावली पर क़ब्ज़ा रखे हुए थे और वह पार्टी के सामने दो बातों को इस समय रख रही थी—(१) क्रान्ति के उद्देश्य और रूप एवं क्रान्तिविरोधियों की चालबाज़ियों का ज्ञान मज़दूरों को अच्छी तरह कराना और (२) क्रान्तिकारी मोर्चे की रक्षा, मज़बूती और क्रमिक विकास की ओर ज़्यादा से ज़्यादा ध्यान देना। कोई बेमौक़े की चढ़ाई नहीं; कोई क़ब्ल-अज़-वक़्त धावा नहीं! उसने एक महीना पहले ही इस सम्बन्ध में (२४ नवम्बर) यों लिखा था—

" आतंकवाद, उथल पुथल और अराजकता की ज़रूरत तो पूंजीपतियों और उनके टुकड़ेखोरों को है, जो अपने धन, सुविधाओं, मुनाफ़े और अपने शासन की रक्षा के लिए थर थर कांप रहे हैं : ये लोग समाजवादी मज़दूर वर्ग पर गड़बड़ी और धावे का दोष मढ़ते हैं, किन्तु, खुद इसकी तैयारियां कर रहे हैं, जिसमें ठीक मौक़े पर ये मज़दूरों की क्रान्ति का गला घोट दें और उसके चिता-भस्म पर पूँजीवादी तानाशाही की इमारत फिर से खड़ी करें। हम अपने ऐतिहासिक मोर्चेबन्दी पर खड़े होकर सिर्फ़ उनपर मुस्कुरा सकते हैं। हम उनकी चालाकी समझते हैं, हम उनके इस नाटक के पात्रों को पहचानते हैं, उनके अभिनयों को जानते हैं और उनके सूत्रधार भी हमसे छिपे हुए नहीं हैं।"

क्रान्तिविरोधियों के सरदार—एब्र्ट, स्खाइडमैन और पुराने सेनापति—सबके सब यह अच्छी तरह देख रहे थे कि समय धीरे धीरे क्रान्ति के पक्षमें काम कर रहा है और मजदूरों और सैनिकों की पंचायतों की कांग्रेस में नामलेवा विजय उन्होंने हासिल की है, उसका भी कोई महत्व नहीं रह जायगा, यदि उन्होंने शीघ्र ही क्रान्ति को जड़ से नहीं उखाड़ फेंका। इसके लिए उन्होंने अपना पहला निशाना भी ठीक कर लिया। ६ दिसम्बर को सैनिकों के तीन गिरोहों ने जो गुंडई की थी, उसमें नाविकसेना कमांडर भी शामिल था। नाविकों में क्रान्तिकारी भावना अक्षुण्ण थी, वे क्रान्ति के हिमायती

और उसके ज़बर्दस्त समर्थक थे। उन्होंने उस कमांडर को निकाल बाहर किया और उसकी जगह पर एक साधारण सैनिक को अपना कमांडर चुना। भला, ऐसी गुस्ताखी ! फिर यह सेना बर्लिन के मध्य में—पुराने बादशाही महल में अपना अड्डा जमाये हुए थी। उनके ज़्यादा आदमी स्पार्टकस के अनुयायी नहीं थे, किन्तु, वे क्रान्ति के तहेदिल से समर्थक थे। इसलिए, सोचा गया कि उन्हें सबक़ सिखाया जाय। उनके ख़िलाफ़ तरह-तरह की शिकायतें और बदनामियाँ फैलाई गईं। अन्त में सरकार की ओर से धमकियाँ दी जाने लगीं। एक बार जब ये नाविक प्रदर्शन कर रहे थे, उनपर गोलियाँ चलाई गईं। इस पर उत्तेजित होकर उन्होंने बर्लिन के कमांडर वेल्स को पकड़ लिया और उसे ले जाकर अपने पास रखा, जिसमें समझौता जल्द हो सके। यही मौक़ा सरकार देख रही थी। समझौते के बदले बाज़ाब्ता उनके अड्डे पर चढ़ाई कर दी गई। वे लड़ाई के लिए तैयार नहीं थे, किन्तु, इससे तो सरकारी सूत्रधारों को और भी उत्साह मिला। ऐन 'बड़े दिन' को—उस पवित्र त्योहार के दिन-तोपों से उन पर गोलियाँ बरसाई जाने लगीं। कई घंटों तक गोलियों की बर्षा होती रही, किन्तु, नाविकों ने भी आत्म-समर्पण करने से साफ़ इन्कार कर दिया। पुलिस के बहुत से जवान और सशस्त्र मज़दूरों के दस्ते नाविकों की मदद में पहुँच गये। औरत और मर्द चढ़ाई करने वाले सरकारी सैनिकों में मिल गये, उनके काम में बाधा डालने लगे और अन्त में उन्हें हथियार रख देने को लाचार कर दिया। शाम तक गोलाबारी बन्द हो गई। सरकार चक्कर में पड़ी। उसे झुकना पड़ा, नीविकों से सुलह करनी पड़ी। वेल्स को इस्तीफ़ा देकर हट जाना पड़ा।

यह क्रान्ति की प्रत्यक्ष विजय थी। क्रान्तिकारी और क्रान्तिविरोधियों के बीच की खाई चौड़ी हो चली थी। अगर वर्ग-समन्वय की कोई आशा थी, तो इसे "ख़ूनी बड़े दिन" ने उसे धूलिसात कर दिया। अब यह साफ़ हो गया कि एक न एक दिन—और जल्द ही—आख़िरी फैसले की लड़ाई होकर रहेगी।

जर्मनी की कम्यूनिस्ट पार्टी

स्पार्टकस लीग एक ढीलीढाली संस्था थी, जिसके सिर्फ़ कई हज़ार सदस्य थे। सोशल डिमोक्रैसी के वाम पक्ष और रोजा लुक्ज़ेम्बुर्ग के शिष्यों से ही इसकी रचना हुई थी। समाजवादी युवक संघ के अधिकांश सदस्य पीछे इसमें शामिल हो गये, जिन्होंने युद्ध विरोध के सिलसिले में मज़दूरों से काफ़ी मेम्बर भर्ती किये थे। लड़ाई

के ज़माने में लीग के सदस्यों ने वे ख़तरे उठाये, जिन्हें पश्चिमी योरप के समाजवादियों और मज़दूरों ने कभी अनुभव नहीं किया था। वे लोग क्रान्ति के शैदाई थे, उनका प्रेम पागलपन की सीमा तक पहुँच जाता था। युद्ध के युग में जिन ग़ैर क़ानूनी परिस्थितियों में उन्हें काम करना पड़ता था, उनमें दृढ़ अनुशासन और केन्द्रीय संचालन का होना असम्भव था। हर शहर में स्पार्टकस के सदस्यों के ग्रूप थे, लेकिन उसे अनुशासित पार्टी नहीं कहा जा सकता था।

१९१७ की अप्रैल में इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की स्थापना हुई थी। स्पार्टकस लीग ने उससे अपने को सम्बद्ध कराया था, किन्तु, उसकी आशा नहीं पूरी हो सकी। थोड़े ही दिनों में प्रगट हो गया कि अपनी मातृ-संस्था की तरह यह भी क्रांति-विरोधी संस्था बन चुकी है—जैसे नागनाथ वैसे सांपनाथ। हां, इस बड़ी संस्था से सम्बद्ध होकर स्पार्टकस ने उससे कुछ नये सदस्य ज़रूर प्राप्त किये थे।

ब्रिमेन में वामपक्षी रेडिकलों का केन्द्र था। उनकी शाखायें उत्तरी जर्मनी, सैक्सनी और राइन लैंड में थीं। उनका एक ग़ैर क़ानूनी मुखपत्र भी निकालता था और मुख्य सिद्धांतों में स्पार्टकस लीग से वे मिलते-जुलते थे; किन्तु, कुछ ब्योरे की छोटी-मोटी बातों में मतभेद होने के कारण दोनों मिलकर एक नहीं हो सके थे। रेडिकल यह नहीं पसंद करते थे कि स्पार्टन्कस ऐसी क्रांतिकारी संस्था इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी से सम्बद्ध हो, या रहे।

किन्तु, यद्यपि इन्डिपेंडेन्ट सोशल डेमोक्रैसी के लीडर नई सरकार में शामिल थे, स्पार्टकस के संसर्ग में आने से उसके कार्यकर्ताओं में क्रान्तिकारी भावनायें ज़रूर क़ायम थीं। वे कार्यकर्ता अपने नेताओं से सरकार से अलग हो जाने पर ज़ोर देने लगे थे। दिसम्बर में जो क्रान्तिविरोधी धावे सरकार की ओर से या उसके उकसाने से हुए थे, उसके कारण इन कार्यकर्ताओं का बहुमत बर्लिन, सैक्सनी, राइनलैंड ऐसे प्रमुख केन्द्रों की पार्टी में हो चुका था। स्पार्टकस लीग की ओर से उनमें ख़ूब प्रचार हो रहा था। बर्लिन की पार्टी की जो आम सभा हुई, उसमें रोज़ा ने सारी स्थिति इस तरह स्पष्ट करके रखी कि तुरत पार्टी की काँग्रेस बुलाने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ। बर्लिन का अनुसरण दूसरे केन्द्रों के पार्टी सदस्यों ने किया। अपने कार्यकर्त्ताओं और सदस्यों की इस क्रान्तिकारी मांग से पार्टी के नेता घबरा उठे। उन्होंने तय किया कि पार्टी की कांग्रेस नहीं बुलायँगे—क्योंकि

ऐसा कर के वे अपनी हार को खुद निमंत्रित करेंगे। वे आत्महत्या करने को तैयार क्यों होते?

इधर क्रान्तिकारी और क्रान्तिविरोधी शक्तियों में जो संघर्ष हो रहा था, वह ऐसी जगह पहुँच चुका था कि सभी क्रान्तिकारी ताक़तों को एकत्र करना, उनका दृढ़ संगठन करना और एक निश्चित कार्यक्रम पर उनको चलाना और बढ़ाना आवश्यक था। इसलिए, स्पार्टकस लीग ने अपना राष्ट्रीय सम्मेलन साल के अन्त में बुलाया। इस सम्मेलन ने सबसे पहला काम किया—जर्मनी की कम्यूनिस्ट पार्टी: स्पार्टकस लीग का बाज़ाब्ता संगठन। उधर वामपक्षी रेडिकलों ने भी अपना सम्मेलन किया और तय किया कि इस संस्था में वे भी शामिल होंगे। इन दोनों के मिलने से क्रान्तिकारी शक्ति अधिक बढ़ गई, इसमें शक नहीं। किन्तु, पार्टी के सामने जो उस समय सबसे प्रमुख सवाल था, उसको लेकर बड़ा मतभेद देखा गया।

सवाल यह था कि राष्ट्रीय परिषद का जो चुनाव हो रहा है, उसके बारे में पार्टी क्या करे? रोज़ा ने इस बारे में 'रोटे फ़ाहने' में यह मत प्रगट किया—

"हम लोग एक क्रान्तिकारी ज़माने से गुज़र रहे हैं। विधान-परिषद के रूप में क्रान्तिविरोधी शक्तियाँ क्रान्तिकारी मज़दूरवर्ग के ख़िलाफ़ एक क़िला बनाना चाहती हैं। हमारा काम है कि इस क़िले पर अचानक चढ़ाई करके इसे ख़ाक में मिला दें। राष्ट्रीय परिषद के ख़िलाफ़ जनता में प्रचार करके और उन्हें आख़िरी संघर्ष के पथ पर आगे बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस चुनाव का और राष्ट्रीय परिषद के मंच का उपयोग करें। राष्ट्रीय परिषद में शामिल होकर उसके असली रूप को हम जनता के सामने रख सकेंगे, शासकों की चालाकियों और धूर्त्तताओं का भंडा फोड़ कर सकेंगे और क़दम क़दम पर उनकी क्रान्ति-विरोधी कार्रवाइयों का पर्दाफ़ाश करके जनता से अपील करेंगे कि वह आगे बढ़े और आख़िरी फ़ैसला तुरत कर ले।"

दूसरे नेता भी रोज़ा के इस विचार से सहमत थे। हाँ, लिब्तक्नेख़्त के गले के नीचे यह नहीं उतर सका था। कार्यकर्त्ताओं में से अधिकांश भी इस राय के महत्व को अच्छी तरह नहीं समझ सके। वे कहते थे, जब राष्ट्रीय परिषद बुरी है, तो उसका पूरा बहिष्कार क्यों न हो? वे रूस का उदाहरण तो देते थे, किन्तु, नवम्बर क्रान्ति के पहले की तैयारियों को भूल जाते थे। उनकी समझ में जर्मनी की

क्रान्ति उस जगह पर पहुँच चुकी थी, जहाँ से अब सीधा मुक़ाबला ही बाक़ी रह गया था। रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने उन्हें मना किया कि आगे की कठिनाइयों को छोटा करके मत दे, तुरत और आसान विजय के प्रलोभन में मत पड़ो, सहायक और समर्थक बनाने के एक भी साधन का तिरस्कार न करो। तो भी वह प्रस्ताव बहुमत से गिर गया। इस पर लिओ जोगिचेस तो बहुत हताश हो गया। उसका कहना था कि नई पार्टी बनाकर हमने ग़लती की, वक़्त से पहले ही हमने यह काम किया, अभी कुछ दिन और ठहरना था। किन्तु, रोज़ा ने इसकी पर्वाह नहीं की। उसने कहा—"नये पैदा हुए बच्चों में प्रायः ही कोई न कोई बीमारी होती रहती है।" उसने क्लारा ज़ेटकिन के पास एक ख़त लिख कर, जो इस घटना से काफ़ी परीशान थी, बताया कि घबराओ मत, पार्टी सही रास्ते को पकड़ेगी, शुरू में ग़लतियाँ हो ही जाती हैं, जर्मनी के मज़दूरवर्ग के क्रान्तिकारी गिरोह हमारे साथ है, तो फिर पर्वाह किस बात की?

नेताओं की गम्भीर राय और नौजवान कार्यकर्ताओं के क्रान्तिकारी उतावलेपन के बीच जो एक उत्तेजनाजनक परिस्थिति पैदा हो गई थी, वह उसी समय शान्त हुई, जब रोज़ा ने पार्टी के कार्यक्रम पर बोलना शुरू किया। उसके बिगड़े हुए स्वास्थ्य को देखकर पार्टी के प्रतिनिधि चिन्तित थे, किन्तु, जब वह बोलने को खड़ी हुई, सबपर जादू-सा चल गया।

उसका व्याख्यान अन्तिम विजय के विश्वास से ओतप्रोत था। उसने क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए ज़ोरदार शब्दों में अपील की। किन्तु, उसने बताया कि ख़ामख़्वाँ बड़ी उम्मीद बाँधना ख़तरे की ओर ले जायगा। उसने बताया कि अभी लम्बी मंज़िल तय करनी है–उसकी राह सीधी नहीं है, उसपर फूल नहीं बिछे हैं। चक्करदार, खाइयों और कांटों से भरी, राह होती है क्रान्ति की। उसपर क़दम क़दम फूंक कर बढ़ना होगा, जो पैर उठेंगे, मज़बूती से। रास्ते में हृदयद्रावक परिस्थितियों से गुज़रना होगा। हार पर हार आ सकती है। किन्तु, ये हारें हमारे लक्ष्य को और निकट लायेंगी, हम अनुभव की गली से विजय के द्वार पर पहुँचेंगे। उसने कहा—

"क्रान्ति की पहली मंज़िल से हमें धोखे में नहीं पड़ना चाहिये। जिस आसानी से एक पूँजीवादी सरकार को हराकर दूसरी पूँजीवादी सरकार क़ायम हुई, उसी आसानी से हम समाजवादी क्रान्ति भी पूरी कर लेंगे-ऐसा सोचना निरी प्रवंचना होगा। विजय तभी मिलेगी, जब मज़दूरवर्ग समाजवादी क्रान्तिकारी संघर्ष के

द्वारा वर्तमान एवर्ट सरकार को उलट दे। ९ ठीं नवम्बर की क्रान्ति राजनीतिक क्रान्ति थी, जबकि क्रान्ति का यथार्थ रूप आर्थिक होना चाहिये। फिर यह क्रान्ति सिर्फ़ शहरों में ही सीमित रही, देहात से इसका सम्पर्क न था और न है। अगर हम समाज को समाजवादी ढाँचे में ढालना चाहते हैं, तो हमें देहात पर भी ध्यान देना होगा। देहात में हमारा काम अभी शुरू नहीं हुआ, यह हमारे लिए दुर्भाग्य की बात है।

"पूँजीवादी क्रान्ति के लिए जो ऐतिहासिक सहूलियतें थीं, वे हमें हासिल नहीं। उसका काम सिर्फ़ इतना था—पुरानी केन्द्रीय सरकार को उलट कर, उसकी जगह पर कुछ दर्जन नये आदमियों को बिठला देना। किन्तु, हमें तो नीचे से ऊपर तक परिवर्तन करना है। नीचे—जहाँ व्यक्तिगत पूँजीपति व्यक्तिगत मज़दूरों को ग़ुलाम की हैसियत से रखे हुए हैं और जहाँ के शोषण और रक्त-दोहन की क्रिया को जारी रखने के लिए ही ऊपर की राजनीतिक शक्ति को उन्होंने वर्ग के रूप में अपने हाथों में कर रखा है। हमें एक एक क़दम आगे बढ़ाना होगा और उनके हाथों से ताक़त छीनते हुए मजदूरों के हाथों में देना होगा।

"मैं जानती हूँ, मैं जो नक़्शा रख रही हूँ, आप घबराते होंगे। मैं जैसी लम्बी और कठिनाई से भरी मंज़िल बताती हूँ, आप वैसा विश्वास करने को तैयार नहीं है। किन्तु, याद रखिये, कठिनाइयों और झंझटों से आंख मूँद कर नहीं, बल्कि उनका सही ज्ञान रख कर ही हम अपनी क्रान्ति के सर पर विजयमुकुट रख सकेंगे। मैं कह नहीं सकती, यह मंज़िल कितनी बड़ी होगी, किन्तु, मेरा विश्वास है, हमारी ज़िन्दगी इतनी लम्बी है कि हम उस विजय को प्राप्त कर के ही मरेंगे।"

काश, रोज़ा की ज़िन्दगी इतनी बड़ी होती! और क्या आश्चर्य कि जिस पार्टी की नींव उसने डाली, किन्तु, जिसने शुरू में ही उसकी सम्मति को न मानकर उतावलापन दिखलाया, और उसी पार्टी ने उसकी पवित्र शहादत के बाद, उसे भुला भी दिया।

: ९ : बेठिकाना उनका मज़ार है !

आग किसने लगाई ?

रोज़ा लुक्जेम्बुर्ग ने यह व्याख्यान पहली जनवरी १९१९ को दिया था। इस व्याख्यान का सारांश यही था कि क्रान्तिकारी समाजवादी लोग स्थिति को सही-सही समझने की कोशिश करें, और जब तक अन्तिम संघर्ष के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं पैदा हो जाता, तब तक ठोस तैयारी के आरम्भिक कार्य करें। इसके कुछ ही दिनों के बाद बर्लिन की सड़कों पर लड़ाई शुरू हो गई और उसमें मजदूरवर्ग बुरी तरह पराजित हुआ। इस घटना को इतिहास लेखकों ने 'स्पार्टकस-विद्रोह' का नाम दिया और इसके पराजय ने क्रान्ति-विरोधियों की सत्ता जर्मनी में जमा दी।

परिस्थिति में इस आकस्मिक परिवर्तन का क्या कारण हुआ ? क्या राष्ट्रीय परिषद के प्रस्ताव की स्वीकृति के चलते ऐसा हुआ ? क्या इस निर्णय का यह स्वाभाविक नतीजा था कि उसके समर्थक शक्ति-प्रयोग के द्वारा चुनाव को रोकने की चेष्टा करें ? नहीं, बिल्कुल नहीं। जिन सदस्यों ने उसके पक्ष में वोट दिये थे, उन्होंने इसकी कल्पना तक नहीं की थी! इस नई पार्टी के नेता रोज़ा के बताये उपर्युक्त मार्ग को त्यागने की इच्छा तक नहीं रख सकते थे—क्योंकि यह मार्ग रोज़ा ने अपने सभी साथियों की रायसे उनके सामने रखा था। तो क्या रूस के दूतावास ने स्पार्टकस को भड़का कर लड़ा दिया, जिससे बौल्शेविकों पर जो तनाव उस समय था, वह कम हो जाय ? पीछे कुछ इतिहास–पुस्तकों में इसका इशारा भी किया गया था। किन्तु, तमाशा तो यह है कि उस समय बर्लिन में रूस का दूतावास था भी नहीं—उसे ४ नवम्बर को ही नई सरकार ने उठने को बाध्य किया था। उस समय बर्लिन में सिर्फ़ एक नाम मात्र का रूसी था—कार्ल रैडक। रैडक ने इस लड़ाई के दर्म्यान जो पार्टी की केन्द्रीय समिति के पास पत्र भेजा, उससे साफ़ है कि रैडक का उसमें ज़रा भी हाथ नहीं था और यह कल्पना भी हास्यास्पद है कि रोज़ा लुक्जेम्बुर्ग और जोगिचेस ऐसे धुरंधर और अनुभवी क्रान्तिकारी नेता "सलाहकारों" के कहने पर इस तरह के सर्वनाशक दुस्साहस के लिए उद्यत हो जाँयगे। यह भी कहा जाता है कि रोज़ा और उसके

साथियों ने दिमाग़ का समतुलन खो दिया था, बिना तैयारी के ही वे धावा कर बैठे और अपने साथ अपनी पार्टी और मज़दूरवर्ग को भी ले बैठे ! कुछ समझदार लोगों ने भी इसे मंजूर कर लिया था। उनका क्या क़सूर ? जबतक सही बातें लोगों को मालूम न हों, तब तक अंट संट बातों पर ही विश्वास कर लेने को मजबूर होना ही पड़ता है।

सही बात तो यह है कि " स्पार्टकस-विद्रोह " नामकी कोई चीज़ हुई ही नहीं थी। इसका सबसे बड़ा सबूत है ' रोटे फ़ाहने ' के लेख; जोकि पार्टी की नीति-रीति के सच्चे परिचायक रहे हैं। उन नाज़ुक दिनों में उसके जो अग्रलेख निकले वे यों हैं—जनवरी १, ' परदे के पीछे क्रान्ति-विरोधियों की खुराफ़ातें ' जिसमें सरकारी काग़ज़ात से साबित किया गया है कि किस तरह रूस के ख़िलाफ़ लड़ाई की तैयारियां हो रही हैं; जनवरी २, " ग़ुलामों के व्यापारी, " पिछले विषय पर ही; जनवरी ३, " हमारी पहली पार्टी कांग्रेस, " जिसमें पार्टी की कठिनाइयों का उल्लेख है; जनवरी ४, " इटली में क्रान्ति की सम्भावना; " जनवरी ५, " खानों के पूंजीवादी लुटेरे, " जिसमें रूहर के आर्थिक संघर्षों पर प्रकाश डाला गया है और जनवरी ६, " बेरोज़गारी "। इन लेखों से ही साबित है कि जर्मनी की कम्यूनिस्ट पार्टी के नेताओं का क्रान्ति के क्रमिक विकास की ओर ही ध्यान था; बर्लिन की सड़कों पर ज़ोर आज़माई उनके दिमाग़ में थी ही नहीं।

सच बात यों है, कि जर्मनी में जो यह लड़ाई हुई उसकी तैयारी और शुरुआत क्रांति विरोधियों ने बड़ी चालाकी से की थी। उस समय उन्होंने जो कुछ किया, उसकी मिसाल इतिहास में नहीं मिलती, इसलिए, लोग उस समय उसे न समझ सके और न उसपर विश्वास कर सके। किन्तु, पीछे फैसिज़्म ने बड़े पैमाने पर उसे दुहराकर लोगों की आखें खोल दीं ! घटनायें आप अपनी गवाही देती हैं—

इस घटना के छः साल बाद १९२५ के अक्टूबर महीने में म्यूनिख की कचहरी में एक मानहानि का मुक़दमा चला था। यह मुक़दमा बड़ा सनसनीदार था, जो 'पीठ में छुरा' नाम से मशहूर हुआ। जर्मनी महायुद्ध में क्यों हारा, इसी को लेकर यह अभियोग चला था। उस मुक़दमे में गवाही देते हुए सेनापति ग्रोनर ने बताया कि किस तरह प्रेसिडेन्ट एबर्ट ने फ़ौजी विभाग के साथ मिलकर यह षड्यंत्र रचा था—"२९ दिसम्बर को एबर्ट ने नोस्क को हुक्म दिया कि स्पार्टकस के ख़िलाफ़ फ़ौजी कारंवाई की तैयारी करे। उस दिन सैनिकों का जमाव किया गया

और लड़ाई की हर तैयारी कर ली गई।" इस गवाही से यह स्पष्ट है कि जिस दिन कम्यूनिस्ट पार्टी की कांग्रेस शुरू हुई, उसी दिन सब तैयारियां क्रांति विरोधियों ने कर ली थीं। किन्तु, तैयारियां तो इसके पहले से हो रही थीं। कई सप्ताह पहले स्वयं सैनिकों का जमाव पोलैंड की सीमा की रक्षा के नाम पर किया जा चुका था। २७ दिसम्बर को उन्होंने बर्लिन के चारों ओर घेरा डालना शुरू किया। इस घेरे को छिपाकर रखना मुश्किल था। एबर्ट ने मंत्रिमंडल के अपने इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक साथियों से इसके लिए मंजूरी लेने की कोशिश धोखा देकर की, उनसे कहा गया कि पोलैंड और रूस पर चढ़ाई करने के लिए सैनिकों का जमाव हो रहा है। बाल्टिक प्रांतों में रूस के खिलाफ़, सोशल डिमोक्रैट विनिंग के नेतृत्व में, युद्ध शुरू हो चुका था। इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के मिनिस्टरों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, जिससे उन्हें इस्तीफ़ा देकर हट जाना पड़ा और अब पूरे दक्षिण पंथी सोशल डिमोक्रैटिक मिनिस्टरों की सरकार बनी—एबर्ट, स्खाइडमैन, लैंड्स्बर्ग, विस्सल और नोस्क। तब नोस्क ने सेना का नायकत्व अपने हाथ में इन शब्दों के साथ लिया—"आखिर किसी को शिकारी कुत्ते का काम करना ही है!" धन्य ओ शिकारी कुत्ते!

अपने 'संस्मरण' में सेनापति मायरकर ने लिखा है—"जनवरी के शुरू में जो एक बैठक सैनिक विभाग के दफ़्तर में हुई, उसमें नोस्क हाज़िर था। उसमें बर्लिन पर घेरा डाले हुए स्वयं सैनिकों के नायक भी हाजिर थे। बर्लिन पर किस तरह धावा शुरू किया जाय, इसके ब्योरे पर बहस हुई और निर्णय हुआ।" ४ जनवरी को एबर्ट और नोस्क ने बर्लिन से बाहर जाकर उन स्वयं सैनिकों का निरीक्षण किया। नाम तो उनका स्वयं सैनिक था, यानी, देश के नाम से स्वेच्छापूर्वक तैयार होकर लड़ने वाले देशभक्तों का दस्ता! किन्तु, यथार्थ बात दूसरी ही थी। उनमें छः दस्ते तो बाज़ाब्ता शिक्षित सैनिकों के थे और जो बाक़ी थे, वे भी सरकार के भाड़े के टट्टू थे, जिनपर सरकारी फ़ौज़ी अफ़सर सवारी कसे हुए थे। उनके पास पूरे हथियार और युद्ध के सामान थे।

इस तरफ़ ये सैनिक तैयारियां हो रही थीं, दूसरी ओर लोगों को स्पार्टकस के ख़िलाफ़ भड़काया जा रहा था। सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का मुखपत्र "वोर्वार्ट" (जिसके सम्पादन विभाग में रोजा काम कर चुकी थी) २४ दिसम्बर से ही आग और ज़हर उगलने लगा था। वह रोज रोज अपने कालमों में स्पार्टकस और उसके

नेताओं के ख़िलाफ़ तरह-तरह की घिनौनी और उत्तेजक बातें लिखता। 'बड़े दिन' को जिन नाविकों की मृत्यु लड़ाई में हुई थी, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है, उनका अन्तिम संस्कार २९ दिसम्बर को हुआ। लाखों मज़दूरों ने उनकी अर्थी का साथ दिया। ठीक इसी दिन सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी ने एक पर्चा निकाला—

"लिब्तक्नेख़्त और रोज़ा लुक्म्ज़ेबुर्ग क्रान्ति की इज़्ज़त में धब्बा लगा रहे हैं और उसके फ़ायदों को बर्बाद करने पर तुले हुए हैं। ये शारीरिक बल पर भरोसा रखनेवाले और उनकी सहायता करने वाले प्रजातंत्र के रुतबे को धूल में मिलावें, जनता को गृह-युद्ध के लिए उत्तेजित करें और भाषण की स्वतंत्रता को गंदे इल्ज़ामों से अपवित्र बनायें—जनता कबतक इन बातों को चुपचाप बर्दाश्त करती रहेगी? जो उनके ख़िलाफ़ होता है, उन्हें वे गालियां देते हैं, धमकाते हैं और पिटवाते हैं। उनकी धृष्टता इतनी बढ़ गई है कि वे अपने को बर्लिन का मालिक ही समझ बैठे हैं।"

दूसरा पर्चा इस आशय का क्रान्ति-विरोधियों द्वारा उसी दिन बांटा गया था—'बड़ेदिन' की ये उत्तजनायें जनता को गड्ढे में गिरा देंगी। इनके कर्त्ताधर्त्ता स्पार्टकस हैं—इन बदमाशों की पाशविक हिंसा का जवाब हिंसा से ही दिया जा सकता है। क्या आप शान्ति चाहते हैं? तब आप में से हर एक का यह कर्तव्य है कि स्पार्टकस की ख़ुराफ़ातों का ख़ात्मा करें। आप आज़ादी चाहते हैं? तब लिब्त-क्नेख़्त के उन हथियारबंद आवारों को जहन्नुम रसीद करें।'

इसके कुछ ही दिन बाद बौल्शेविक विरोधी संघ ने खुले आम ऐलान किया कि जो कोई लिब्तक्नेख़्त का सर उतार लेगा, उसे दस हज़ार मार्क इनाम मिलेगा। सरकार ऐसे ऐलानों पर कोई कारवाई कहां तक करती, उल्टे उसकी और पूँजीपतियों की थैली इन हत्याकारी उत्तेजनाओं को बढ़ाने के लिए खुली हुई थी।

पहली जनवरी को सोशल डिमोक्रैट हाइलमैन और हौफ़्रिख़्टर द्वारा सम्पादित अख़बार ने बर्लिन के पुलिस प्रेसिडेन्ट एमिल ईख़ौर्न के ख़िलाफ़ तरह-तरह के इल्ज़ाम लगाए ईख़ौर्न बड़ा ही चरित्रवान व्यक्ति था। उसकी सच्चरित्रता की धाक इन इल्ज़ाम लगाने वालों पर भी थी। किन्तु इससे क्या? उन्होंने खुलकर यहाँ तक लिख डाला कि उसने जनता का रुपया खा लिया है। यही नहीं, उस पर यह भी अभियोग लगाया गया कि वह गृह-युद्ध की तैयारी मे लगा हुआ है, यद्यपि वे यह जानते थे कि

उसके पास इतने हथियार भी नहीं हैं कि अपनी पुलिस को अच्छी तरह हथियारबंद कर सके। तीसरी जनवरी १९१९ को वह मिनिस्टरी के आफ़िस में बुलाया गया और उस पर इल्ज़ामों की बौछार करके उससे कहा गया कि वह इस्तीफ़ा दे दे। उसने कहा कि उस पर जो इल्ज़ाम हैं, उन्हें लिख कर दिया जाय, जिनका जवाब वह २४ घंटे के अन्दर देगा। सरकार लिख कर जनता के सामने अपने को लाना नहीं चाहती थी। दूसरे ही दिन उसे बरख़ास्त कर दिया गया। ईख़ौर्न ने चार्ज देने से इन्कार कर दिया, जब तक कि उस पर बाज़ाब्ता लिखकर कार्रवाई नहीं की जाती। फिर, उसकी भर्ती मिनिस्टरी ने नहीं की थी। मज़दूर-सैनिक-पंचायत की कार्य-समिति ने उसे उस पद पर बिठाया था। तब वह क्यों मिनिस्टरी की बात मानें ?

इस प्रश्न पर विचार करने को बर्लिन की इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी और शौप-स्टिवार्ड-कमिटी की सम्मिलित बैठक हुई, जिसमें ईख़ौर्न का समर्थन करते हुए प्रस्ताव पास हुआ। संघर्ष बचाने के लिए ईख़ौर्न ने कहा कि बर्लिन की मज़दूर-सैनिक पंचायत से मुझे हुक्म दिला दिया जाय, तो मैं हट जाऊँ। इस पंचायत में सरकार का बहुमत था, आसानी से वह ऐसा कर सकती थी। किन्तु, वह तो ख़ुद संघर्ष चाहती थी। ईख़ौर्न को ज़बर्दस्ती हटा दिया गया और उसकी जगह एक सोशल डेमौक्रैट को पुलिस प्रेसिडेन्ट मुक़र्रर किया गया। सरकार के इस काम के ख़िलाफ़ ५ जनवरी को इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी और शौप-स्टिवार्ड—कमिटी की ओर से विराट प्रदर्शन किया गया। कम्यूनिस्ट पार्टी स्पार्टकस लीग भी उसमें शामिल हुई। लाखों मज़दूर कारख़ानों से निकल आये, जुलूस बना कर पुलिस आफ़िस के नज़दीक गये, ईख़ौर्न को बहाल रखे जाने की मांग पेश की और एलान किया कि यदि सरकार नहीं सुनेगी, तो हम उससे ऐसा कराके छोड़ेंगे !

इस प्रदर्शन से प्रभावित होकर इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी की कार्य-समिति, शौप-स्टिवार्ड-कमिटी और कम्यूनिस्ट पार्टी की ओर से दो प्रतिनिधियों—कार्ल लिब्तक्नेख़्त और विल्हेम पीक की सम्मिलित बैठक हुई। उसका विश्वास था कि बर्लिन की सेना उनका साथ देगी, स्पांडाओ और फ़ांकफ़ुर्त से भी उन्हें सैनिक सहायता पाने की उम्मीद थी। इस बैठक ने तय किया कि ईख़ौर्न की इस बरख़ास्ती का मुक़ाबला किया जाय, एबर्ट-स्खाइडमैन की सरकार को उखाड़ फेंका जाय। एक 'क्रांतिकारी कमिटी' चुन ली गयी, जिसके नेता जौर्ज लेबेडर, कार्ल लिब्तक्नेख़्त और पाल स्खौल्ज़ बनाये गये।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या निर्णय समयोचित था ? क्या वे लोग इसके उपयुक्त पात्र थे, जिन्हें इस महान कार्य के लिए चुना गया था ? किन्तु, यह सवाल भी नहीं उठता, क्योंकि, जिस समय यह निर्णय हो रहा था, उसके पहले, दूसरी जगह आग लग चुकी थी !

२५ दिसम्बर को, जबकि नाविकों पर सरकार ने अन्यायपूर्वक धावा बोल दिया था, कुछ क्रान्तिकारी मजदूर " वोखार्ट " के आफ़िस पर चिढ़ दौड़े थे और उस पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया था। इन मज़दूरों को इस बात की चिढ़ थी कि उन्हीं के रुपये से स्थापित और आज भी उन्हीं से इकट्ठा किये गये कोष से चलने वाला यह अख़बार, उनका और क्रान्ति का प्रबल विरोधी बन गया है। महायुद्ध के ज़माने में इसने धोखा दिया था ही, आज भी यह अपनी क्रान्तिविरोधी रवैया नहीं छोड़ता। उनकी यह चिढ़ स्वाभाविक थी और उनका यह कब्ज़ा न्यायोचित था। किन्तु, रोज़ा को जब यह ख़बर मालूम हुई, उसने अभी ऐसा करना मुनासिब नहीं समझा और उसी दिन मजदूरों को वहां से हटा दिया। ५ जनवरी को जब यह महान प्रदर्शन पुलिस आफ़िस के सामने हो रहा था, फिर किसी ने मजदूरों को " वोखार्ट " पर क़ब्जा करने की याद दिलाई। उनका एक गिरोह उस ओर गया, अख़बार और सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के दफ़्तर पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। शाम होते होते बर्लिन के सभी प्रमुख अख़बारों और प्रेसों पर मज़दूरों का झंडा उड़ रहा था। दूसरे दिन, ६ जनवरी को, सरकारी प्रेस और स्टेशनरी के दफ़्तर पर भी वही झंडा लहरा रहा था।

इसमें शक नहीं कि ऐसी घटनायें जनता के जोश में हो जाना असम्भव नहीं। लेकिन, जिन बातों का पीछे पता चला, उनसे यह सिद्ध है कि मज़दूरों को धोखा दिया गया। उन्हें दुश्मनों ने भड़काया और जाल में फँसाया। प्रुशिया की धारासभा ने जो जांच-समिति बैठाई थी, उसने गवाहियों की छान बीन कर यह निर्णय दिया कि बर्लिन के सेनापति के आफ़िस के मुशाहरे पर पलनेवाले कुछ उत्तेजना देने वाले ख़ुफ़िया के गुर्गों ने मजदूरों को इस काम के लिए उभाड़ा, ग़लत नारे देकर उन्हें उस ओर बढ़ाया, जहां पहले से ही सर्वनाश का जाल होशियारी से बिछाया जा चुका था !

शाबाश स्पार्टकस !

यों, इस जनवरी के विद्रोह की शुरुआत क्रान्ति विरोधियों ने की थी और इसलिए उन्हें सब सुविधायें प्राप्त थीं। किन्तु, मज़दूरों के हाथ में भी कुछ अच्छे ताश थे। उनके पास हथियारों की कमी नहीं थी और वे उनके इस्तेमाल करने को भी तैयार थे। यद्यपि बर्लिन की सेना ने अपने को तटस्थ घोषित किया था और वह अपने बैरक में ही पड़ी हुई थी, किन्तु, यह बहुत सम्भव था कि मज़दूरों की दृढ़ता और वीरता को देखकर वह उनका साथ दे दे। होशियारी से तैयार की गई और उत्साह से चलाई गयी सैनिक कार्रवाइयाँ क्रान्तिविरोधियों के होश दुरुस्त कर देतीं, उनके पैर उखाड़ देतीं, इसमें शक नहीं। बहुत सम्भव था कि बर्लिन में मज़दूरों को पूरी विजय प्राप्त होती, किन्तु, सवाल था बर्लिन से बाहर का, जहाँ आन्दोलन और संगठन की कमी थी। जब बाहर से खतरा आता, बर्लिन में क्या किया जा सकता, कहाँ तक उसे दूर किया जाता, यही प्रश्न था। किन्तु, यह प्रश्न उठने भी नहीं पाया कि शुरू में ही मज़दूरों की हार पर मुहर लग गई। इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैट, शौप-स्टिवार्ड-कमिटी के बहुमत से बनी "क्रान्तिकारी-कमिटी" ने सशस्त्र मुक़ाबले और सरकार को उखाड़ फेंकने का ऐलान तो करदिया, किन्तु, उसका नेतृत्व बिल्कुल निकम्मा साबित हुआ। उसने ६ जनवरी को फिर प्रदर्शन करने की अपील निकाली; मज़दूरों में कुछ राइफ़ल भी बाँटे और मिनिस्ट्री के युद्ध-विभाग पर क़ब्ज़ा करने की धीमी कोशिश भी की। किन्तु, उसने उन मज़दूरों के बारे में कुछ नहीं सोचा, जो अखबारों के दफ़्तरों पर क़ब्ज़ा करके बैठे हुए थे। जबकि घनघोर लड़ाई हो रही थी, मज़दूरों के ये क्रान्किारी जत्थे असैनिक महत्व के स्थानों में उलझ रहें, यह उचित नहीं था। इस लड़ाई के दर्म्यान सिर्फ़ एक ही सैनिक महत्व का काम हुआ और उसे मज़दूरों ने अपने मन से किया—वह था स्टेशनों पर क़ब्ज़ा करना। उस समय "क्रांतिकारी कमिटी" सिर्फ़ बहस किये जा रही थी—बहस, बहस, बहस ! और इन बहसों का नतीजा—सरकार से समझौता कर लेना ! समझौता करके वह अब अपने को इस ज्वाला से निकाल कर बचा लेना चाहती थी, किन्तु, मज़दूर तो अपनी नाव तब तक चला चुके थे। इस समझौते की बातचीत ने उनमें पस्ती लाई, उनके हौसले टूट गये, पैर बँध गये।

और यह नई कम्यूनिस्ट पार्टी क्या कर रही थी ? लिब्तक्नेख्त और पीक ने इस लड़ाई के पक्ष में वोट दिये थे और लिब्तक्नेख़्त की जो प्रतिष्ठा थी, उसके

चलते इस निर्णय के होने में बड़ी मदद मिली थी। लिब्तक्नेख़्त एक बहादुर, लेकिन भावना-प्रवण आदमी था। वह होशियारी से मोर्चाबंदी करना या स्थिति के हर ब्योरे पर ध्यान देना जानता नहीं था। उत्साह और साहस का वह पुतला था। लड़ाकू स्वभाव—हर लड़ाई के पक्ष में। उसने और पीक ने बिना पार्टी से पूछे ही लड़ाई के पक्ष में वोट दिये थे। पार्टी समूची क्रान्ति को इस तरह बाज़ी पर रख देने को तैयार नहीं थी। रोज़ा लुक्जेम्बुर्ग ने लिब्तक्नेख़्त को इसके लिए काफ़ी फटकार बताई और इसपर क्रोध और आश्चर्य प्रगट किया कि स्पार्टकस लीग की मोर्चेबन्दी के सभी सिद्धान्तों को उसने एक बार ही हवा में उड़ा दिया। वह सशस्त्र संघर्ष की विरोधी नहीं थी, किन्तु, उसके लिए उपयुक्त मौक़ा अभी नहीं आया था। कम्यूनिस्ट पार्टी अभी बच्ची थी; बर्लिन के मज़दूरों पर उसकी धाक थी, किन्तु, समूचे मज़दूरवर्ग पर उसका एकाधिकार था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी हालत में विजय प्राप्त होने पर भी वह असली हुकूमत की बागडोर सम्हाल सकती थी, यह भी विवादास्पद बात थी। इसलिए, अभी धैर्य से काम लेना था। किन्तु, अब जब लड़ाई शुरू हो गई थी, रोज़ा ने पूरी ताक़त और दृढ़ निश्चय से इसके चलाने में ही कल्याण देखा। अब पैर पीछे रखना मज़दूरों को धोखा देना होता। इसलिए वह 'रोटे फ़ाहने' में लेख लिख लिखकर मज़दूरों से डटे रहने और आगे बढ़ने एवं नेतृत्व को दृढ़ता से स्थिति का सामना करने को उत्साहित करने लगी। ७ जनवरी को उसने लिखा—

"क्या नेताओं ने स्थिति की गम्भीरता और अपने कर्तव्य को समझने की कोशिश की है? क्या इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी के क्रान्तिकारी हिस्से और क्रान्तिकारी शौप-स्टिवार्ड कमिटी ने जनता के बढ़ते हुए जोश को महसूस किया है? जनता ने इनकी बात मान कर अपने को इस ज्वाला में झोंक दिया है। वे अब आगे बढ़ने के लिए अपने नेताओं से हुक्म पाने की प्रतीक्षा में हैं।

"इन नेताओं ने इस बारे में क्या निश्चय किया है? शायद वे लोग 'गम्भीर' विचार कर रहे हैं—किन्तु, समय अब सिर्फ़ विचार करने का नहीं है, काम करने का है।

"एबर्ट और स्शाइडमैन का गिरोह बहस में नहीं फँसा हुआ है। वह पर्दे में बैठा क्रान्तिविरोधियों की धूर्तता और कार्यशक्ति से क्रान्ति को कुचलने की तैयारी में लगा हुआ है। वह अपनी तोप बंदूकों में गोले-गोलियाँ भर कर घात में बैठा है कि ज्यों ही मौक़ा मिले, क्रान्ति को धूल में मिला दे।

" खोने के लिए समय नहीं है। तुरत ही काम शुरू होना जरूरी है। क्रान्तिकारी संस्थाओं की जोशीली और उत्साहपूर्ण कार्रवाइयों से ही हिचक में पड़े हुए सैनिकों को क्रान्ति के पक्ष में लाया जा सकता है।

" सभी सच्चे समाजवादी नेताओं का, चाहे वे जिस पार्टी के हों, एक ही काम है,—करो, बढ़ो; उत्साह से, हिम्मत से करो, बढ़ो! क्रान्ति विरोधियों से हथियार छीन लो, जनता के हाथों में हथियार दो, सभी प्रमुख नाकों पर क़ब्जा करो। करो, बढ़ो—क्रान्ति की यही मांग है, यही आदेश है।"

सुलह की जो बातचीत चल रही थी, रोज़ा ने स्पष्टतः बताया कि यह क्रान्ति-विरोधियों का जाल है। यद्यपि लड़ाई शुरू करने के पहले उससे राय नहीं ली गई थी, किन्तु, अब जब लड़ाई शुरू हो गई थी, तब वह सुलह के जंजाल में नहीं फँसकर लड़ाई को जोश से आगे बढ़ाने के पक्ष में थी। उसकी बात बिल्कुल सही थी—पीछे की कार्रवाइयों से पता चला कि सुलह की यह चर्चा मज़दूरों की हिम्मत और उत्साह तोड़ने के लिए की गई थी। ज्योंही मौक़ा आया, क्रान्ति-विरोधियों ने अपने वादों को तोड़ डाला, उस सुलहनामे को फाड़ फेंका जिसपर उनके दस्तखत थे और पूरी पैशाचिकता से दमन आरम्भ कर दिया।

रोज़ा का जो रुख़ इस जनवरी के संघर्ष के बारे में था, उसका समर्थन करते हुए क्लारा जेटकिन ने लिखा है—

" ये घटनायें प्रारम्भ में बहुत ही उत्साहप्रद और आशाप्रद प्रतीत होती थीं, किन्तु, रोज़ा किसी घटना को अलग करके विचारने की आदी नहीं थी। वह सम्पूर्ण आन्दोलन को देखती थी; देखती थी समूची जर्मनी की जनता की क्या स्थिति है। हो सकता है, बर्लिन में मज़दूरों की विजय हो जाती, किन्तु, जब तक सम्पूर्ण जर्मनी की जनता तैयार नहीं हो, तबतक 'पेरिस-कम्यून' की तरह चंद दिनों का "बर्लिन कम्यून" भी इतिहास देखता। इसलिए वह इस समय समूची सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश के बदले क्रान्तिविरोधियों के हमले का मुँहतोड़ जवाब देने, ईखौर्न को फिर उसके पद पर बिठाने, बर्लिन के आन्दोलन को कुचलने के लिए बुलाई गई सेना को वापस करने, मज़दूरों को हथियारबंद करने और सैनिक शक्ति की बागडोर मज़दूरों के हाथ में देने—इन्हीं सवालों को आगे रखना पसंद करती थी। किन्तु, ये सवाल भी बहस से, या सुलह से हल नहीं हो सकते थे, इनके लिए भी क्रान्तिकारी कार्रवाई की जरूरत थी।

"रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग के नेतृत्व में नई कम्युनिस्ट पार्टी के नज़दीक कितनी ही कठिनाइयाँ थीं, कितनी ही झंझटें थीं। वह सरकार को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से की गई इस लड़ाई के पक्षमें नहीं थी, लेकिन, अब, जब जनता उसमें शामिल हो चुकी थी, वह अपने को उनसे अलग भी नहीं रख सकती थी। मतभेद होने पर भी पार्टी को जनता का साथ देना लाज़िमी था, जिसमें क्रान्ति-विरोधियों के मुक़ाबले में कमज़ोरी नहीं आने पावे और जनता स्वयं अपने अनुभवों से क्रान्तिकारी सबक़ ले। इसलिए, पार्टी के काम दो तरह के थे-एक ओर आलोचनात्मक और दूसरी ओर सहायतात्मक।

इसके अलावा रोज़ा के कामों का समर्थन एक और पहलू से भी होता था। उसने बार बार यह बताया था कि क्रान्तिकारी परिस्थिति आने पर जनता की मनोवृत्ति में जल्द-जल्द विकास होता जाता है-"क्रान्ति का एक-एक घंटा इतिहास में महीनों का काम करता है और उसका एक-एक दिन वर्षों का।"

इस मनोवृत्ति की झलक भी मिल रही थी। देशभर में क्रान्ति की लहर तेज़ी से फैल रही थी। राइनलैंड की क्रान्ति-विरोधी सेना को खुली लड़ाई में हराया जा चुका था और डूसेलडौर्फ़ एवं ब्रिमेन में मज़दूर-सैनिक-पंचायत ने शासन की बागडोर अपने हाथ में कर ली थी। बर्लिन में कस कर की गई चढ़ाई दुश्मनों को बड़ी से बड़ी रिआयत देने को मज़बूर कर सकती थी। इसीलिए, जब कार्ल रेडेक ने यह सलाह दी कि कम्यूनिस्ट पार्टी इस विद्रोह से अपने को अलग कर ले, पीछे हट कर बैठ रहे, तो रोज़ा और उसकी पार्टी ने उसकी बात नहीं मानी। फिर उस समय की जर्मनी की कम्यूनिस्ट पार्टी रूस की बौल्शेविक पार्टी की तरह एक सुसंगठित और अनुशासित पार्टी नहीं थी, जो बाक़ायदा पीछे हट कर अपनी स्थिति को क़ायम रख पाती। पार्टी इतनी मज़बूत नहीं थी कि वह अकेली आगे बढ़ सकती, या पीछे हट सकती थी।

इस लड़ाई के दर्म्यान कार्ल लिब्तक्नेख़्त दिनरात मज़दूरों के बीच में रहता था। न खाता, न सोता—पल पल में ज़िन्दगी का ख़तरा। किन्तु, उन ख़तरों के बीच भी वह इस मोर्चे से उस मोर्चे पर दौड़ता रहता, मज़दूरों को सलाह देता, उत्साहित करता। इस दौड़धूप में उसे इतनी भी फ़ुर्सत नहीं मिलती थी कि पार्टी के दफ़्तर से सम्बन्ध रख सके, सलाह ले सके।

रोज़ा की भी अजीब हालत थी। पहली क्रान्ति में उसके चेहरे से शान्ति और विश्वास टपकता। वह अपने समर्थकों को उमंग में रखती, उसकी एक मुस्कुराहट की नज़र उनकी थकावट दूर कर देती, उनमें उत्साह भर देती। मौक़े पर पह उन्हें डाटती और सही रास्ता बताती। वह एक चलती-फिरती चिनगारी मालूम होती। किन्तु, इस बार उसके शरीरने उसके साथ दग़ा कर दिया था। अब इच्छाशक्ति का उसपर वश नहीं था। युद्ध के बर्षों की जेल-ज़िन्दगी की प्रतिक्रिया अब उसे जैसे धीरे-धीरे निगलना चाहती हो। काम करते-करते वह अचानक बेहोश हो जाती। बेहोशी प्रायः हर दिन, कभी-कभी कई बार, आती। साथी कहते, आराम कीजिये, दवा कराइये। वह उनपर ग़ुस्से से ताकती, कहती, क्या मैं मज़दूरों से दग़ा करूँ। वे लड़ रहे हैं, मर रहे हैं, मैं जिन्दगी की खैर मनाऊँ। जो बाक़ी रही–सही शक्ति थी, उसका एक एक कण काम में लगाती। रोज़ाना उसके लेख 'रोटे फ़ाहने' में निकलते। उन लेखों में वही स्पष्ट विचार, वही उत्साह और साहस।

नरमेध का आरम्भ

८ वीं जनवरी को विल्हेल्म स्ट्रास्से पर क्रान्ति–विरोधियों ने गोलाबारी शुरू की थी। इसी भवन में 'रोटे फ़ाहने' का सम्पादकीय दफ़्तर था। फिर इसके अन्दर घुसने की कोशिश हुई, किन्तु, वे थोड़ी ही देर में आपसे आप भाग खड़े हुए। क्योंकि उन्हें ऐसा विश्वास था कि स्पार्टकस ने इस मकान को क़िले में परिणत कर रखा है। सच बात यह थी कि इस मकान में अस्त्र शस्त्र का नाम नहीं था, न यहां उस समय, सिवा एक स्त्री के कोई दूसरा व्यक्ति ही था। इस घटना से सबक़ लिया गया और ९ जनवरी को वहाँ से आफ़िस हटा लिया गया। सरकार ने उस समय उस घर पर पहरा बैठा दिया था। रोज़ा जब निकली, उसने इन पहरेदारों को देखा। ये कौन थे? ग़रीबों ही के बेटे तो। किन्तु, भूख और बेकारी ने उन्हें इस कुकर्म पर–अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारनेको–लाचार किया था। रोज़ा ने उन्हें समझाना शुरू किया, किन्तु, क्या इस समय उसे इस तरह छोड़ा जा सकता था? मुश्किल से उसे वहां से हटाया जा सका। उसके तुरत ही बाद ह्यूगो एबरलीन ने देखा, वह फिर सड़क पर खड़ी लोगों को समझा रही है। रोज़ा सब खतरों को भूल गई थी, बल्कि वह ज़िम्मेवारी के ख्याल से, खतरों को खोजती फिरती थी। जब पार्टी का हर सदस्य और जनता का हर व्यक्ति इस जद्दोजहद में फँसा है, उसे ही क्या हक़ है कि हिफ़ाज़त खोजे, वह इस तरह सोचती।

कुछ दिनों तक वह लड़ाई के हल्के में ही, एक डाक्टर के घर पर रही। वह और लिओ जोगिचेस—दोनों अनुभवी क्रान्तिकारी थे, किस तरह संकटों में छिपा और बचा जाता है, अच्छी तरह जानते थे; किन्तु, वे दोनों के दोनों निर्द्वन्द होकर इस तरह काम कर रहे थे, जैसे खतरे का कोई अन्देशा ही नहीं हो। वे नेताओं और लड़ने वाले समूहों के प्रतिनिधियों से खुले आम जलपानघरों और होटलों में मिलते। चारों ओर गोलियाँ चल रहीं, उनके दुश्मन हर जगह उनको फँसाने के लिए जाल बिछाये चलते, किन्तु, ये दोनों अपने काम में बेरोकटोक लगे रहते। १० जनवरी को शहर के कमांडर ने विद्रोही नेताओं की धरपकड़ शुरू की। जॉर्ज लेडेबोर और अर्न्स्ट मेयर गिरफ़्तार किये गये। इन दोनों के साथ जो सलूक किया, उससे पता चला, सरकार क्रान्ति-नेताओं की जान लेने को उतारू है।

लेडेबोर की गिरफ़्तारी का सपना नहीं देखा जा सकता था। वह इन्डिपेन्डेन्ट सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी का नामी नेता था और वही सरकार से सुलह की बातचीत कर रहा था। दूसरी भोर में ही सुलह की बात होने को थी। उसने सरकार से कहा, उसे छोड़ दिया जाय, उसकी गिरफ़्तारी का क्या मतलब? वह तो सुलह कराना चाहता है। किन्तु, एबर्ट सुलह थोड़े ही चाहता था। वह तो किसी तरह समय काट ले जाना और मज़दूरों के जोश को ठंढा करना चाहता था। इसमें वह सफल हो चुका था। अब वह किसीसे कुछ रिआयत क्यों करने चले?

११ जनवरी की घटना से साबित हो गया, सरकार कहाँ तक नीचे उतरने—नीचता और निर्ममता देखाने को तैयार है। ११ को एक फ़ौजी दस्ता "वोरवार्ट" के आफ़िस को विद्रोहियों से छीनने को भेजा गया। दस्ते ने आते ही मशीन गन और तोप चलाना शुरू कर दिया। क़ब्ज़ा करने की पहली चेष्टा असफल होने पर गोलेबारी शुरू की गई। दो घंटे तक भीषण गोलेबारी होती रही। जब देखा कि अब किसी तरह क़ब्ज़ा नहीं रखा जा सकता, तो विद्रोही मज़दूरों ने अपने दो प्रतिनिधि सुलह के लिए भेजे—उनमें एक था मज़दूरों का प्यारा कवि मोलर और दूसरा प्रसिद्ध लेखक ओल्फ़गैग फ़र्नबाख़। फ़ौज़ी दस्ते ने इस बात को मंजूर किया कि बिना शर्त के मज़दूर पराजय स्वीकार करके दफ़्तर ख़ाली कर दें। मज़दूरों ने इस शर्त को मंजूर कर लिया, किन्तु, जब वे तीन सौ मज़दूर आफ़िस से बहार निकले तो देखा कि उनके दोनों प्रतिनिधियों की लाशें ख़ून में तड़प रही हैं!

क्रान्तिविरोधियों का आंतकवाद शुरू हो गया।

फ्रेडरिख़ स्ट्रास्से में कम्यूनिस्ट पार्टी का दफ़्तर था। उस पर धावा किया गया और उसे ज़मींदोज़ कर डाला गया। लिओ जोगिचेस और ह्यूगो एबरलीन को गिरफ़्तार किया गया। एबरलीन किसी तरह भाग निकला और उसकी मारफ़त जोगिचेस ने पार्टी के नेताओं को खबर भेज दी कि वे बर्लिन छोड़कर फ्रांकफ़ुर्त चले जायँ और वहीं से जो कुछ सम्भव हो, करें। जो उस समय एक घटना हुई, उससे उसकी आशंका का समर्थन होता था। 'रोटे फ़ाहने' के दफ़्तर में क्या हो रहा है, यह जानने के लिए एक महिला सदस्य को भेजा गया था। सरकारी गुर्गों ने समझा, यही 'रोज़ा' है। फिर क्या था, बेचारी को पकड़ कर दुर्गत कर दी—बड़ी मुश्किल से उसकी जान बची, जब यह पता चला कि यह रोज़ा नहीं है। इससे सिद्ध था कि रोज़ा ज्यों ही पकड़ी जायगी, उसकी जान लिए बिना ये नहीं छोड़ेंगे। किन्तु, जब लिओ जोगिचेस की यह राय रोज़ा से कही गई, उसने झुंझलाकर उसे नामंजूर कर दिया। मुझे और लिब्तक्नेख्त को बर्लिन में ही रहना है, जिसमें मजदूर पराजय से बच सकें और उनमें पस्ती न आने पावे—यह थी उसकी दलील। और उसकी दलील में तथ्य था, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है?

कुछ लोग कहते हैं, रोज़ा को इस मौके पर लेनिन का अनुसरण करना चाहिये था; जो १९१७ की जुलाई के दिनों में क्रान्तिविरोधी ताक़तों का जोर देखकर, रूस छोड़ कर फिनलैंड भाग गया! किन्तु, लेनिन की धर्मपत्नी क्रुप्स्काया ने जो संस्मरण लिखे हैं, उनसे यह स्पष्ट हो चला है कि लेनिन और जिनोविव रूस छोड़ने के पक्ष में नहीं थे, वे अपने को अदालत के सुपुर्द करने को तैयार थे, किन्तु, पार्टी ने उन्हें हुक्म दिया, तब कहीं लाचारी वे अपनी जगह से हटे।

११ जनवरी को रोजा लुक्जेम्बुर्ग के निवासस्थान पर एक मीटिंग हुई, जिसमें कार्ल लिब्तक्नेख्त भी शामिल हुआ। उसमें यह तय हुआ कि यह स्थान सुरक्षित नहीं है, इसलिए रोजा और कार्ल दोनों वहाँ से हटकर दूसरे महल्ले में एक मजदूर परिवार में जाकर ठहरें। ऐसा ही हुआ। किन्तु, १३ को उन्हें वहां से भी हटना पड़ा, क्योंकि अफ़वाह उड़ी कि सरकारी गुर्गों को इस जगह की भी खबर लग गई है। अब वे दोनों विल्मर्स डौर्फ़ नामक बर्लिन के अंचल की बस्ती में एक मध्यवित्त परिवार में जा रहे। इसी घर में रोजा ने अपना अन्तिम लेख लिखा। उसका शीर्षक था—"अब बर्लिन में शान्ति है!" इस लेख में बताया गया था कि क्यों मजदूरों की यह लड़ाई असफल हुई। साथ ही, मजदूरों को हिम्मत भी दी गई थी कि वे भयभीत न हों, घबरायें नहीं—एक न

एक दिन उनकी जीत होकर रहेगी। लिब्तक्नेख्त ने भी एक लेख लिखा, कैसी ओजस्वी वाणी में—

"स्पार्टकस आग है, शक्ति है! स्पार्टकस हृदय है, आत्मा है! क्रान्तिकारी इच्छा और क्रान्तिकारी कर्तृत्व का नाम स्पार्टकस है। स्पार्टकस—चाहे जो हो, परवाह क्या?"

हत्या, हत्या, हत्या!

जब रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग और कार्ल लिब्तक्नेख्त विलमर्स डौर्फ़ में पहुँचे, उन्हें फँसाने के लिए पूरा इन्तज़ाम किया जा चुका था। कितनी क्रान्तिविरोधी संस्थाओं के थैलों पर पलनेवाले खुफ़िया के गुर्गे चारों ओर उनकी तलाश में चक्कर काट रहे थे। रूस से भागे हुए बड़े लोगों ने जो बौल्शेविक-विरोधी संघ क़ायम कर रखा था, उसका थैला इस पुण्य कर्म के लिए खुला हुआ था। इस संस्था ने समूची जर्मनी में अपना जाल बिछा रखा था और रोज़ा, कार्ल और रैडक के सिरपर बड़े बड़े इनाम बोल रखे थे। इसीके एक एजेंट वौन ट्याज़्का ने ७ जनवरी को कार्ल लिब्तक्नेख्त को पकड़वाने की कोशिश की थी। इसी एजेंट ने एक लेफ़्टिनेंट के साथ मिलकर अर्न्स्ट मेयर और जैपर्ग लेडेबौर को गिरफ़्तार कराया था। सरकारी खुफ़ियों के साथ भिन्न भिन्न क्रान्तिविरोधी संस्थाओं के खुफ़िया भी सरतोड़ परिश्रम कर रहे थे। पीछे जो कई मानहानि के मुक़दमे चले, उनकी गवाहियों से यह पता लगा कि रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग और कार्ल लिब्तक्नेख्त के सिरपर एक लाख मार्क का इनाम बोला गया था। फ़िलिप स्खाइडमैन की ओर से उसके साले ने खुफ़ियों के सर्किल में जा-जा कर प्रचार किया था कि ज्योंही यह काम सम्पन्न कर लिया जायगा, इनाम की रक़म एक मुश्त अदा कर दी जायगी।

पूंजीवादी और सोशल डिमोक्रैटिक दोनों ही संस्थाओं के संचालक इस बात में होड़ लगाये हुए थे कि किसे इन दो नेताओं के सिर उतरवाने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

इन हत्याओं के लिए वातावरण भी बनाया जा रहा था। क्रान्ति के शुरू होते ही स्पार्टकस के ख़िलाफ़ अखबारों के कालम रँगा जाना और लाखों पर्चे बँटवाना शुरू हो गया था। सरकार के भाई के टट्टू मज़दूरों को गोलियों का शिकार बना रहे या उनके सर तलवार के घाट उतार रहे थे और उन हत्यारों को 'मुक्तिदाता' की

उपाधि दी जा रही थी। ऐसा ज़बर्दस्त प्रचार किया गया था कि पूँजीवादियों की क्या बात, मध्य वर्गीय भलेमानस भी मज़दूरों को सब खुराफ़ातों की जड़ मान कर उन्हें पकड़ कर सरकारी अफ़सरों के सुपुर्द करते, जो उन्हें पंक्तियों में खड़ा कर गोलियों से सरे आम मार डालते। उनकी लाशें तड़पतीं, वे देख देख कर खुश होते। कितने ही बेक़सूर लोग भी इस आम हत्याकांड में काम आये। मज़दूरों के खून से होली खेलने के बाद अब इन दो नेताओं के खून से वे अपने हाथ में मेंहदी लगाना चाहते थे। 'वोरवार्ट' ने निर्लज्जता की हद कर दी, जब उसने १३ जनवरी को इस आशय की एक कविता सजा कर, छापी—

कई सौ लाशें पांत में तड़प रही हैं—
मज़दूरो!
कार्ल, रोज़ा, रैडक और उनके साथी—
इनमें नहीं दीख पड़ते, इनमें नहीं दीख पड़ते
मज़दूरो!

और इसी 'वोरवार्ट' को यह परम सौभाग्य प्राप्त हुआ कि १६ जनवरी के अपने अंक में उसने घोषित किया—"लिब्तक्नेख्त निकल भागने की चेष्टा में गोली से मार दिया गया" और रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग को "जनता ने खुद मार डाला।"

यह हत्या कैसे हुई, उसका एक एक ब्यौरा अब मालूम है। गिरफ़्तारी के बाद निकल भाग कर लिओ जोगिचेस ने सारी बातों का ब्योरेवार पता लगाया और उन्हें 'रोटे फ़ाहने' में छपवाया। मज़दूर-सैनिक-पंचायत के प्रतिनिधियों से मिलकर उसने सारे ब्यौरे को सरकारी वकील जौर्न्स के लिए पता लगाया। ये बातें ऐसी सनसनीखेज़ थीं कि सरकारी वकील बहुत बातों को दबा गया। पीछे स्लाइडमैन बनाम प्रिंज (१९२०) आदि के जो मानहानि के मुक़दमें चले, उनमें कितनी छिपी बातें सामने आईं। प्रशिया को "डायट" ने सरकारी तौर पर एक कमिटी इस हत्याकांड की जाँच के लिए मुक़र्रर की थी, जिसकी रिपोर्ट सरकारी काग़ज़ों में छपी। बचीखुची बातें १९२९-३० में हुए जौर्न्स के मानहानि के मुक़दमे में खुलीं।"

१५ जनवरी को नौ बजे शाम को कार्ल लिब्तक्नेख्त, रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग और विल्हेल्म पीक की गिरफ़्तारी विल्मर्सडौर्फ़ के ५३ नम्बर के मकान में हुई। पहले रोज़ा और लिब्तक्नेख्त दोनों ने झूठे नाम बताये, इस भ्रम में कि शायद धोखे से

किसी दूसरे की तलाश में यह छापा मारा गया है। किन्तु, एक खुफ़ियाने बताया कि वे ही दोनो हैं, क्योंकि यह खुफ़िया दोनों को अच्छी तरह पहचानता था और कुछ दिन पहले उसने लिब्तक्नेख़्त का विश्वास भी प्राप्त कर लिया था। पहले लिब्तक्नेख़्त को खुफ़िया के दफ़्तर में ले जाया गया, वहां से वह ईडन होटल लाया गया, जहाँ क्रान्ति विरोधी अफ़सरों का अड्डा था। रोज़ा और पीक वहाँ पीछे ले जाये गये।

ईडन होटल में ज्योंही उनकी गिरफ़्तारी की खबर मिली, कैप्टन पैब्रस्ट ने रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग और कार्ल लिब्तक्नेख़्त दोनों की हत्या करने का इन्तज़ाम किया। होटल में लिब्तक्नेख़्त के पहुँचते ही राइफ़ल के दो कुन्दे उसके सर पर जमाये गये। उसने कहा कि कम से कम इस ज़ख़्म पर पट्टी तो दे दो—किन्तु, कौन पट्टी देता है? जब रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग वहाँ पहुँचाई गई, चारों ओर से एक राक्षसी आनन्द—ध्वनि हुई। फिर गालियों की बौछार शुरू हुई। पीक को बरामदे पर ही रोक रखा गया और रोज़ा और लिब्तक्नेख़्त को सवाल पूछने के लिए कैप्टन पैब्रस्ट के कमरे में ले जाया गया। इसके थोड़ी देर के बाद लिब्तक्नेख़्त को होटल से बाहर ले चले। जब वह होटल से निकल रहा था, फिर उसके सर पर एक कुन्दा जमाया गया। वह बेहोश होकर गिर गया, तब घसीट कर उसे एक मोटर पर डाल दिया गया, जहाँ ६ फ़ौजी अफ़सर और एक सैनिक बैठे थे। मोटर चली और टीरगार्टन में पहुँची। आधे बेहोश लिब्तक्नेख़्त को मोटर से घसीट कर बाहर किया गया और उसकी निर्मम हत्या कर दी गई। फिर, उसकी लाश को मोटर पर रख कर नज़दीक के क़ब्रगाह में पहुँचाया गया और कहा गया यह एक अपरिचित आदमी की लाश टीरगार्टन में पड़ी हुई मिली है !!!

थोड़ी देर बाद रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग को भी ईडन होटल से लेफ़्टिनेंट बौगेल नामक फ़ौज़ी अफ़सर ले चला। ज्योंही वह दरवाज़े से बाहर हुई वौगेल के हुक्म से पहले से ही तैयार एक सैनिक ने उसके सर पर दो कुन्दे लगाये। कुंदों के लगते ही उसकी खोपड़ी चूर चूर हो गई, वह गिर पड़ी। अर्धमृत की दशा में उसे उठाकर मोटर पर रखा गया और वौगेल कई अफ़सरों के साथ उसे लेकर चला। मोटर पर ही एक अफ़सर ने उसकी खोपड़ी को रिवाल्वर की मूंठ से और भी चूर—चूर कर दिया। फिर बौगेल ने अपनी रिवाल्वर नज़दीक ले जाकर गोली छोड़ी, जिससे उसकी तड़पती लाश बिल्कुल ठंढी हो गई ! मोटर चलती हुई लैंडवेहर नाले के पुलपर पहुँची। वहाँ वह खड़ी की गई, रोज़ा की लाश निकाली गई और उसे नीचे के पानी में डाल दिया गया!!!

उपसंहार

“ किसी अलक्षित कोड़े से ताड़ित होकर सूर्य–देवता के घोड़े हमारे भाग्य के कमज़ोर रथ को घसीटे हुए बढ़ते जाते हैं, और सिवा ठंढे साहस से उनकी लगाम पकड़े रहने के, हमारे लिए कोई दूसरा चारा नहीं होता।...अगर हमारे लिए गिरना बदा है तो वज्रपात से हो, हवा के झोंके से हो, या एक ग़लत क़दम बढ़ाने से हो हम उस गढ़े में गिर कर ही रहेंगे, जहाँ हमारे ऐसे हज़ारों पहले से ही गिर पड़े हैं। युद्धक्षेत्र में अच्छे साथियों के साथ, छोटे लाभ के लिए भी, ज़िन्दगी की बड़ी बाज़ी लगा देने में हमने हिचक नहीं दिखाई; फिर उन महान कार्यों के लिए, जिन पर जान देना हर आज़ाद मनुष्य सौभाग्य समझता है, प्राणोत्सर्ग करने में मैं क्या आगापीछा सोचूँगा ?”—गटे

महान जर्मन कवि गटे की उपर्युक्त पंक्तियों में रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग की ज़िन्दगी का दर्शन छिपा हुआ है। वह जानती थी उसे बाज़ी पर किस अमूल्य चीज़ को लगा देना है, वह जानती थी कि उसका नतीजा क्या हो सकता है, वह जानती थी कि जिस महान कार्य को लेकर वह आगे बढ़ी है उसमें हज़ारों जानों की क़ुर्बानियाँ देनी हैं, वह जानती थी कि उसे भी एक दिन मौत का ख़ुशी ख़ुशी आलिंगन करना होगा। उसने एक बार सोनिया लिब्तक्नेख़्त को लिखा था–“ मुझे यक़ीन है, युद्धभूमि में ही मेरी मौत होगी–या तो किसी सड़क पर, या किसी जेल में। ” यह कोई भावना की बात नहीं थी, यह उसका विश्वास था और विश्वास पूरा हुआ !

यह नहीं कहा जा सकता कि अगर वह ज़िन्दा होती, इन पचीस वर्षों के अन्दर जर्मनी का इतिहास क्या रुख़ लिये होता ? निस्सन्देह ही उसके प्रभाव के कारण जर्मनी के मज़दूरों ने कुछ दूसरा ही करतब दिखाया होता। उसकी मृत्यु ने उसके जीवन को ही नहीं, जर्मनी के समाजवादी आन्दोलन को भी बर्बाद कर डाला। अपने आदर्श को विजयी रूप में देखने का सौभाग्य उसे जीवन में नहीं मिल सका, तो कम से कम उसे ऐसी शानदार मौत ज़रूर मिली, जिसकी कामना हर वीरात्मा व्यक्ति करता है। ज़िन्दा रहो तो अपने आदर्श के लिए; मरो तो अपने आदर्श के लिए, लड़ते-लड़ते। बिछावन पर पैर रगड़ कर नहीं, दोस्तों और कुटुम्बियों की

आह और उसांस के बीच नहीं—बल्कि दुश्मनों के हथियार से, उनके ग़ुस्से और घृणा की कालिमा को अपने खून से धोते, लाल बनाते हुए! इस वीर मृत्यु ने रोज़ा की ज़िन्दगी को हमारी आंखों के सामने और भी चमका दिया, उसे एक जीवित प्रतीक बना डाला!

इस हत्या की खबर ने वृद्ध फ्रांज मेहरिंग के जर्जर हृदय को मानों टुकड़े-टुकड़े कर डाला। उसके दो सप्ताह के अन्दर ही—२९ जनवरी को उसने भी इस पापी दुनिया से सदा के लिए आंखें मूद लीं। रोज़ा ऐसी ईमानदार, धुनी, कर्मठ, अथाह विद्वत्ता और अपार योग्यता से भरी महिला का यह राक्षसी अंत, बूढ़े मेहरिंग के लिए बर्दाश्त करना ग़ैर मुमकिन था! लिओ जोगिचेस तब तक अफ़सरों की आंख में धूल झोंक कर उनके चंगुल से निकल चुका था। जब उसे यह ख़बर मिली, एक दिन में ही वह बूढ़ा हो गया। किन्तु, वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ। इस नारकीय अपराध के ख़िलाफ़ उसने ज़बर्दस्त प्रचार शुरू किया। 'रोटे फ़ाहने' के कालमों के अलावा कितने ही पर्चे और पुस्तिकायें निकालीं, जिसमें चश्मदीद गवाहों के बयान ही नहीं थे, भंडाफोड़ करने वाले फ़ोटो भी थे। इन प्रचारों से भयभीत होकर सरकारी और अर्द्ध सरकारी गुर्गे उसकी जान पर पड़े। १० मार्च को उसे गिरफ़्तार किया गया और पुलिस के सदर मुक़ाम में ले जाकर उसकी भी हत्या कर डाली गई!!!

इन दिनों हज़ारों मज़दूरों ने स्पार्टकस के प्रति अपनी भक्ति दिखाने के लिए सड़कों और जेलों में अपनी जान गँवाई!!

उनकी हत्या पर क्रान्तिविरोधियों ने उत्सव मनाये, दावतें कीं। उन्होंने समझा, क्रान्ति को उन्होंने सदा के लिए दफ़ना दिया। उनके हल्कों में आनन्द की किलोलें मच रही थीं। उनके इशारे पर नाचनेवाली वेश्या की तरह, दकियानूसी अखबारों ने इस घटना को छिपाने या इसके औचित्य को सिद्ध करने की पूरी कोशिशें कीं। किन्तु, 'रोटे फ़ाहने' तब तक ज़िन्दा था। उसने इन हत्याओं के ब्यौरे पर ब्यौरे देकर जनता की सोई हुई आत्मा को जाग्रत करने की कोशिश की। धीरे धीरे जनता जगी, निरपराधों का खून बोल उठा! लाख कोशिश करके भी सरकार इस पर पर्दा नहीं डाल सकी। आख़िर उसे न्याय का एक स्वांग रचना ही पड़ा। झूठ, मक्कारी और घूस के घटाटोप के अन्दर से सत्य की किरणें निखरने लगीं। जब बातें ज्यादा खुलने लगीं, तो जल्द-जल्द कुछ आदमियों को सज़ा देकर उन्हें फिर

तोप देने की कोशिश की गई। लेफ़्टिनैंट वौगेल को दो वर्ष की सजा दी गयी और रोजा के हत्यारकारी रंगे को भी उतने ही दिनों की! उनमें से वौगेल को तो सजा के बाद जर्मनी से ही खर्चा देकर हटा दिया गया, जिसमें उसे सजा न भुगतना पड़े। जिसने जोगिचेस की हत्या की थी, उसे तो 'अच्छे काम के लिए' तरक़्क़ी दी गई।

चार महीनों के बाद रोज़ा के शव को उस नाले में से निकाला गया। मज़दूरों ने उस पर आँसू के फूल चढ़ाये, उसकी पूजा की, उसे आदर से दफ़नाया और उसपर स्मारक बनाया।

ज़िन्दगी भर पूँजीवादी अखबारों ने उसे बुरे-से-बुरे रूपमें चित्रित करने की कोशिश की थी। 'खूनी रोज़ा' तो उसका नाम ही रख दिया था, इन खून के प्यासे कुत्तों ने। तरह तरह के उसपर कार्टून निकालते रहे—वह 'क्रोध की मूर्ति' है, 'बारूद की ढेर' है, 'पेट्रोल की कुप्पी' है। १९१८–१९ में तो रोज़ा पर की उनकी नाराज़ी ने पागल-प्रलाप का रूप धारण कर लिया था। रोज़ा ने कभी एक पंक्ति भी ऐसी नहीं लिखी थी, एक वाक्य भी ऐसा नहीं कहा था, जो मर्यादा के विपरीत हो। किन्तु, इससे क्या? रोजा का सबसे बड़ा अपराध तो यह था कि उसने पूँजीवाद का सच्चा रूप जनता के सामने रखा था और उससे सुलह करने को कभी तैयार नहीं थी। वह डंके की चोट कहती थी—पूँजीवाद संसार में खून और हिंसा के ज़रिये आया है और यह अपना अस्तित्व रखने के लिए खून की धारा बहाता रहा है और रहेगा। भला, यह सच्ची, किन्तु, तीखी बात उन्हें किस तरह बर्दाश्त होती? उसे बदनाम किया, फिर उसकी हत्या कराई। अच्छे–अच्छे लोग भी उनके प्रचार में फँस गये। किन्तु, रोज़ा का निरपराध खून रंग लाकर रहा। धीरे-धीरे ग़ैरसमाजवादी भी उसके यथार्थरूप को पहचानने लगे और अपने को कोसने लगे कि धोखे में पड़कर उन्होंने इस नारी-रत्नकी हत्यामें, नैतिक रूप से ही सही, हाथ बँटाया।

और, उन सोशल डिमोक्रैट नेताओंका क्या हुआ, जिन्होंने पूँजीवादियों के हित में, अपने को समाजवादी कहते हुए भी, रोज़ा के खून से अपने हाथ रंगे! जनवरी १९१९ का कुकर्म जनवरी १९३३ में रंग लाया। हिटलर ने उसे भी हत्याकारी प्रवृत्ति दिखलाकर, उसी घाट का उन्हें पानी पिलाया, जिस घाट पर रोज़ा, लिब्तक्नेख़्त और जोगिचेस तथा हज़ारों मज़दूरों को मौत के घूंट पीने को लाचार किया था।

हिटलर के लिए रोज़ा की स्मृति को भी बर्दाश्त करना असम्भव था। ज्योंही उसके हाथ में शासन आया, रोज़ाके स्मारक को उसने ज़मींदोज़ कर दिया, उसका नाम निशान भी नहीं रहने दिया। उसकी किताबों की आम होली जलाई गई। स्पार्टकस के मशाल को जो लोग जलाते आ रहे थे, उन्हें या तो क़त्ल करा दिया, या कान्सेन्ट्रेशन कैम्पों में सड़ा कर मार डाला गया।

उस ख़ूनी व्यक्ति और उसके सिद्धान्त से दूसरी आशा ही क्या की जा सकती थी? उसके शासन में रोज़ा का स्मारक का बचा रहना ही उसका अपमान होता। किन्तु, सबसे बड़ा आश्चर्य और दुख तो तब होता है, जब हम उन्हें भी उसकी स्मृति को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हुए पाते हैं, जिन्हें उसकी रक्षा के लिए सबसे आगे बढ़ना चाहिये था। जिस कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना और उसके आदर्श की रक्षा में रोज़ा ने अपनी ज़िन्दगी गँवाई, उसी पार्टी के नाम पर उन लोगों ने, स्तालिन का राज्य शुरू होते ही, रोज़ा के सिद्धान्तों को तोड़ मरोड़ कर, उसे 'लुक्ज़ेम्बुर्गवाद' का भ्रामक नाम देकर, उसके ख़िलाफ़ अजीब अजीब तरह का प्रचार किया, मज़दूर आन्दोलन में उसके नेतृत्व की बुरी-से-बुरी आलोचना की, उसे बदनाम किया, उसके अनुयायियों को पार्टी से निकाल बाहर किया, यहाँ तक कि उसके ग्रन्थों के प्रकाशन में भी तरह-तरह की बाधायें डालीं। और अन्त में उसके बहुत से साथियों और अनुयायियोंको, इसी लिए जेलों में तड़प तड़प कर मरना पड़ा कि वे स्तालिन के बताये रास्ते को अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के लिए ग़लत समझते थे!

जब जर्मनी के मज़दूरों को मालूम हुआ कि रोज़ा को मार कर लैंडवेहर के नाले में डाल दिया गया है, तब उन्हें इस पर विश्वास नहीं हुआ। वे सोच नहीं सकते थे कि उत्साह, प्रतिभा और इच्छाशक्ति की यह जीवंत मूर्ति बन्दूक़ के कुंदों या पिस्तौल की गोलियों से मारी जा सकती है और बहुत दिनों तक उनमें यह अफ़वाह थी कि रोज़ा कहीं मौक़े की ताक में छिपी हुई है, वक़्त पर वह फिर बाहर निकलेगी और उनकी क्रान्तिका नेतृव करेगी।

यह अफ़वाह ग़लत थी, किन्तु, इसमें सचाई का भी एक अंश ज़रूर था। उसका हाड़ मांस का शरीर फिर कभी क्रान्ति का नेतृत्व नहीं कर सकेगा, इसमें शक नहीं, किन्तु, दुनिया की कोई तानाशाही हुक्म या अग्निकांड उसके विचारों को नष्ट नहीं कर सकते। वे विचार उसके अनुयायियों और

मज़दूरों के दिमाग़ में नक्श़ हो चुके हैं। जो शक्तियाँ इतिहास को पीछे घसीट ले जाना चाहती हैं, उनका पतन अंत में निश्चित है, भले ही थोड़ी देर उन्हें कितनी भी सफलता मिलकर रहे। बीज बोया जा चुका है, एक दिन पेड़ उग कर रहेगा, उसमें फल लग कर रहेंगे। इतिहास इसका साक्षी है; ऐसा ही हुआ है, ऐसा ही होगा। आज लिब्तक्नेख़्त और रोजा लुक्जेम्बुर्ग के नाम उनके लिए प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं, जो सच्ची आज़ादी के प्रेमी हैं, जो मानवता के हार्दिक पुजारी हैं!

आज बर्बरता और राक्षसता की चारों ओर विजय दीखती है, किन्तु, इस विजय की भी सीमा है। सामाजिक अभ्युदय और मानव स्वतंत्रता का आन्दोलन फिर एक बार सर उठायेगा और उस अन्तिम युद्ध में उन सिद्धान्तों की विजय होकर रहेगी, जिन्हें रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग ने अपने ख़ून से अभिसिक्त किया है!